तुम अनन्त शक्तिके स्रोत हो

लेखक : मुनि नथमल

संकलयिता : कमलेश चतुर्वेदी



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला   ग्रन्थांक-२१७
सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

Lokodaya Series Title No 17
TUM ANANT SHAKTI KE
SROTE HO
(Ethics & Morals)
MUNI NATHMAL
Bharatiya Jnanpith
Publication
Second Edition 1966
Price Rs 2.00

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
प्रधान कार्यालय
९ अलीपुर पार्क प्लेस कलकत्ता २७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग वाराणसी ५
विक्रय-केन्द्र
३६२० २१ नेताजी सुभाष मार्ग दिल्ली ६
द्वितीय संस्करण १९६६
मूल्य २.००
सन्मति मुद्रणालय वाराणसी ५

प्राथमिकी

१

'तुम अनन्त शक्तिके स्रोत हो' इस अभिधासे स्पष्ट है कि शक्तिका स्रोत बाहरसे भीतरकी ओर नही आ रहा है, किन्तु भीतरसे बाहरकी ओर आ रहा है। हमारे भीतर शक्ति है, प्रकाश है, और भी बहुत कुछ है, पर हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी है और मन भी बहिर्मुख हो रहा है। इसीलिए अपनी आन्तरिक शक्ति और प्रकाशसे हम अपरिचित है। हम सुनी-सुनाई व रटी-रटाई बातोंके आधारपर जानते है कि हमारे भीतर अनन्त शक्तियाँ छिपी पडी है। पर सचाई यह है कि हम नही जानते कि हमारे भीतर अनन्त शक्तियोका अस्तित्व है। मनुष्यके इस आनन्दको अभिव्यक्त करनेके लिए हमारे पूर्वज मुनियोने एक विद्याका आविष्कार किया। उसे आप आध्यात्मिक-विद्या, योग-विद्या या मोक्ष-विद्या कुछ भी कहिए, प्रयोजन एक ही है और वह है अपनी भीतरी शक्तियोंका प्रकटन।

सांख्य, वैदिक, बौद्ध, जैन आदि सभी परम्पराओमे योग-विद्या समादृत रही है। महर्षि पतञ्जलिका योगसूत्र, बौद्धोका अभिधम्मकोष और विशुद्धिमग्ग, वैदिकोका योग-वाशिष्ठ, हठयोग तथा तन्त्र-शास्त्रकी परम्परामें साधना सम्बन्धी अनेक

ग्रन्थ मिलते हैं। वे सुव्यवस्थित और सुसम्पादित हैं। जैन साहित्यमें भी वैसे ग्रन्थोंकी कमी नहीं है पर वे सुसम्पादित नहीं हैं। इसलिए योग विद्याके जिज्ञासुका पहला प्रश्न यह होता है कि जैन-परम्परामें योग-विद्याका स्थान है? यह प्रश्न अनेक व्यक्तियोंने मुझसे पूछा है और उन व्यक्तियोंने भी पूछा है जो जैन-परम्परामें पले-पुसे हैं। इस प्रश्नका पूर्ण समाधान अभी हम नहीं दे पाये हैं। आचार्य श्री तुलसी इस दिशामें प्रयत्नशील हैं और समय आनेपर वह समाधान प्रस्तुत किया जायेगा।

योग विद्याकी ओर मेरा झुकाव प्रारम्भसे ही रहा है। साधना व अनुभूतिका योग मिलनेपर वह मन सूक्ष्म हो जाता है जिसे सूक्ष्म माना जाता है। आचार्य श्री तुलसीके प्रोत्साहन और मार्ग-दर्शनने मुझे इस दिशामें गतिशील बनाया। यह स्थितिके साथकी गति है। इसलिए इन निबन्धोंमें गति-सापेक्ष स्थिति की अपेक्षा स्थिति-सापेक्ष गति ही अधिक मिलेगी। उसकी आज अपेक्षा है।

मुनि श्रीचन्द 'कमल' तथा मुनि दुलहराजजीने इन निबन्धोंका सम्पादन कर एक वास्तविक अपेक्षाकी पूर्ति की है। यह पुस्तक जन योगके परिचय पानेका एक माध्यम बन जायेगी—यह मैं मानता हूँ।

आषाढ़ कृष्णा ११
[illegible] (राजस्थान)

—मुनि नथमल

अनुक्रम





दुर्बलिका पुष्यमित्र चाहिए

प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु जगदीश काश्यपने जिज्ञासा की—बौद्ध सम्प्रदायमें जैसे ध्यानकी प्रणाली है, उसका साहित्य है, वैसे आपके जैन संघमें उसकी प्रणाली क्या और कैसे है? साहित्य-ग्रन्थ कौन-सा है? वाराणसीकी बात है, जब वे आचार्यश्री तुलसीसे वार्तालाप कर रहे थे। मैं आचार्यश्रीके पास ही बैठा था। जैन साहित्यके आधुनिकीकरणकी उन्हें जानकारी दे रहा था। उनकी जिज्ञासामें एक प्रेरणा थी। उसने मुझे सुन्दर अतीतका साक्षी बना दिया। मुझे स्मरण हो आया, जिज्ञासा नयी नहीं है। वीर-निर्वाणकी छठी शताब्दीकी घटना है। एक बौद्ध भिक्षु आये और बोले—हम बौद्धोंमें जैसे ध्यानकी प्रणाली है, वैसी आप लोगोंमें नहीं है। आर्यरक्षित सूरिने कहा, यह क्या कह रहे हैं? जैन-परम्परामें ध्यानका स्थान बहुत ऊँचा है। हमारी ध्यानकी प्रणाली उत्कृष्ट है। मैं शब्दोंमें क्या कहूँ! यह जीवित उदाहरण है, मेरे पास। यह रहा दुर्बलिका पुष्यमित्र। कितना दुर्बल हो रहा है! ऐसा क्यों हुआ है? बौद्ध भिक्षुने कहा, यह पौष्टिक भोजनके अभावमें दुर्बल हो गया होगा।

तब आर्यरक्षितने कहा, नहीं, ऐसा नहीं है। देखो, यह बैठा घृत-पुष्यमित्र। इसे घृत-लब्धि (योग विभूति) प्राप्त है। कल्पना करो, एक गर्भिणी स्त्री है। पतिने छह मासके प्रयत्नसे घृत-सञ्चय किया है। वह स्त्री कृपण है। उसका पति भूखा हो, घी माँगे तो भी वह अपने पतिको घी देना नहीं चाहती। यही गोचरी जाये तो सहर्ष इसके पात्रमें घी उँडेल देगी। फिर कैसे माना जाये कि पौष्टिक आहारके अभावमें दुर्बलिका पुष्यमित्र है?

बौद्ध भिक्षु इसका क्या कारण है ?

आचार्यश्री — ध्यानकी उत्कृष्ट आराधनासे ही यह रहस्य बना हुआ है। मेरी बातपर विश्वास न हुआ हो तो कुछ दिन रहो और अपना मठम रख कर परीक्षा कीजिए।

बौद्ध भिक्षुने आचार्यश्रीकी बातोंको स्वीकार किया। दुर्भिक्षका दुष्प्रभाव आचार्यश्रीका शिष्य था तब उनके साथ चले गये। कुछ दिनों वहीं रहे। पौष्टिक भोजन किया पर वे स्थूल न बने। उनकी दुबलताने बौद्ध भिक्षुओंको प्रभावित किया और अब वे जैन-आगमकी ध्यान प्रणालीके प्रति अनभिज्ञ नहीं थे।

आचार्यश्री तुलसीके पास कोई दुर्भिक्षका दुष्प्रभाव होता तो भिक्षु धर्मकीर्तिकी जिज्ञासाको इसी प्रकार परितोष मिलता किन्तु परिस्थिति भिन्न थी। आज ध्यानी मुनियों और ध्यान ग्रंथोंकी परम्परा लुप्त सी है। आगमगत ध्यानकी प्रणाली विलीन-सी है। परवर्ती साहित्यमें ध्यानके तत्त्वानुशासन योगबिन्दु योगदृष्टिसमुच्चय योगशास्त्र-जैसे कोई ग्रन्थ हैं पर ध्यानकी समग्र प्रणालीका प्रतिपादक कोई ग्रन्थ नहीं है। जो सूत्र ग्रन्थ होते हैं व अभ्यास-क्रमके बिना विस्मृत हो जाते हैं। ध्यान विस्मृति की कथा है यह स्वीकार करते हुए हमें कोई संकोच नहीं होता। भगवान् महावीरकी सारी तपस्या ध्यान-साधनासे परिपूर्ण थी। तपस्या क्या है? कोरा अनशन ही तपस्या नहीं है। वह बाह्य तपस्या है, साधन है।

ध्यान आन्तरिक तपस्या है। अनशनके लिए ध्यान नहीं है, ध्यानके लिए अनशन है। बाह्य तप अनुपादेय नहीं है किन्तु वही उपादेय हो रहा है यह अनुचित है। मुनि दूसरे प्रहरमें ध्यान करे—यह आज विस्मृत— यह अभिग्रहधारी मुनिके लिए ही मान्य रहा है। ध्यान, संवर योग-जैसे शब्द अपरिचित-से होते जा रहे हैं। आजका जन-मानस जितना बाह्याचारपरक है उतना अध्यात्मचेतनापरक नहीं है। धर्मका मूल सूत्र है—कषाय विजय। साधनाका आलम्बन कषाय विजयके लिए है पर

जैन योग

रत्नत्रयात्मक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको मोक्षमार्ग कहा है। इसीको आचार्य हेमचन्द्रने योग कहा है। हरिभद्र सूरिके मतमें धर्म-व्यापार योग है। योग वह है जो मोक्षसे योग—सम्बन्ध कराये। मन योगका साधन है, इसलिए आत्माका जितना परिशुद्ध व्यापार है वह सब योग है। यह निश्चय दृष्टि है। किन्तु व्यवहार दृष्टि या सामान्य रीतिके अनुसार योग स्थान, आसन आदि एकाग्रताके विशेष प्रयोगको कहा जाता है। हरिभद्र सूरिने योगके पाँच प्रकार बताये हैं—

१ स्थान : कायोत्सर्ग, पद्म, पर्यङ्क आदि आसन।

२ ऊर्ण-वर्ण : शब्दका उच्चारण, ध्वनि, जप आदि।

३ अर्थ : शब्द आदिका व्याख्यान।

४ आलम्बन : बाह्य ध्यानमें मनको केन्द्रित करना।

५ रहित : निरालम्ब या निर्विकल्प चिन्मात्र समाधि रूप।

इनमें-से प्रथम दो प्रकारोंको कर्मयोग और बाद तीन प्रकारोंको ज्ञान योग कहा है। पतञ्जलिके अनुसार योग है—

१ यम : अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

२ नियम : शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान।

३ आसन : सुखपूर्वक स्थिर होकर बैठना।

४ प्राणायाम : श्वास-प्रश्वासका गतिविच्छेद।

५ प्रत्याहार : इन्द्रियोंको अपने अपने विषयोंसे हटाना, अन्तर्मुखी करना।

६ धारणा : चित्तको किसी चीजमें बाँधना—स्थिर करना।

७ ध्यान चित्तका एक विषयमें स्थिर होना।

८ समाधि वही ध्यान जब अर्थमात्रका प्रतिभास हो जाये, स्वरूप शून्य हो जाये।

जैन-परम्परामें योगकी अष्टांग व्यवस्था नहीं है। हरिभद्र सूरिने जो पचांग व्यवस्था की है, वह नवीन है। प्राचीन व्यवस्था द्वादशांग है। उसे तप कहा गया है। उसके बारह अंग हैं—

१. अनशन उपवास आदि तप।

२ ऊनोदरी कम खाना, मिताहार।

३ भिक्षाचरिका भोजन-निर्वाहके साधनोंका संयम।

४ रस-परित्याग सरस आहारका परित्याग,   द।

५ कायक्लेश आसन।

६ संलीनता इन्द्रियोंको अपने विषयोंसे हटाकर अन्तर्मुखी करना।

७. प्रायश्चित्त पूर्व कृत दोष विशुद्ध करना।

८. विनय : नम्रता।

९ वैयावृत्य दूसरोंके लिए कुछ करना।

१० स्वाध्याय पठन।

११ ध्यान चित्त-वृत्तियोंको स्थिर करना।

१२ व्युत्सर्ग शरीरकी प्रवृत्तिको रोकना।

इनमें प्रथम छहको बाह्य और शेष छहको आभ्यन्तर तप कहा गया है। महर्षि पतञ्जलिने पूर्ववर्ती पाँच योगांगोंको बहिरंग साधन कहा है। धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीन अन्तरंग हैं। निर्बीज समाधिके लिए इन्हें भी बहिरंग माना है। अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरिया और रस परित्याग। इनका सम्बन्ध भोजनसे है। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भोजनका विवेक प्रत्येक मनुष्यके लिए आवश्यक है। योगीके लिए उसकी और अधिक अपेक्षा है। जो व्यक्ति काल, क्षेत्र, मात्रा, स्वात्म्यहित या पथ्य, गरिष्ठ, लघु और अपने पाचन बलको देखकर भोजन करता है, उसे औषधसे क्या?

औषध उसे वैसी होती है जो अमित और वाञ्छित जाये । यह स्वास्थ्य बुद्धि है । जैन साधनामें शरीरकी अपेक्षा मनकी प्रधानता दी गयी है । मानसिक स्वास्थ्यके लिए भोजनपर जितना विचार किया गया है, उतना ही भोजन न करनेपर किया है । अन्यतर योगशास्त्री इस विषयमें भिन्न मत रखते हैं । परन्तु योगीके लिए उपवासका निषेध किया है । उन्होंने लिखा है कि योगी कठिन और भारी भोजन न करे । जैनाचार्योंने साधकके लिए दीर्घ उपवास का विधान किया है । भगवान महावीर दीर्घ तपस्वी थे । उन्होंने दीर्घ तप किया दो उपवाससे लेकर छह मास तकके उपवास किये । दीर्घकालीन उपवाससे रासायनिक परिवर्तन होता है उससे सिद्धि सहज सुलभ होती है यह तत्त्व उन्हें ज्ञात था ।

उपवासका अर्थ आहार-त्याग ही नहीं है । उसका अर्थ है विषय और विकारके त्यागकी प्रमुख आराधना । गीताके अनुसार— 'निराहार व्यक्ति विषयोंसे निवृत्ति पा लेता है । उससे रस नहीं छूटता किन्तु रस रहित परमतत्त्वका साक्षात् पा वह रससे भी मुक्त हो जाता है ।' उपवासका प्रयोजन शरीर शोषण नहीं किन्तु आत्मशुद्धि है । शरीरका शोषण होना उसका प्रासंगिक परिणाम है । महात्मा बुद्धने अपने ध्यानकी पूर्तिके लिए संकल्प किया— इस आसनपर बैठे-बैठे मेरा शरीर भले सूख जाय चमड़ी हड्डी और मांस भले विलय हो जायें किन्तु दुर्लभ बोधिको प्राप्त किए बिना यह शरीर इस आसनसे विचलित नहीं होगा । भगवान् महावीरने संकल्प किया कि 'मैं तब तक शरीरसे निरपेक्ष रहूँगा जब तक कैवल्यज्ञानकी उपलब्धि न हो जाय ।' संकल्पकी पूर्तिके लिए उपवास शरीर-शोषण या विसर्जन आवश्यक है । प्राणायामके साथ उपवासका सम्बन्ध गहन है । उपवासका विषय भी प्राणायामके प्रकरणमें किया गया है और उसमें आरम्भमें कुछ भी खाया हो चार भोजनकालका विधान किया गया है ।

जैन आचार्य प्राणायामको महत्त्व नहीं देते । उनके मतमें वह चित्त

निरोध और इन्द्रिय-विजयका निश्चित उपाय नहीं है। जैन प्रक्रियाके अनुसार विजातीय द्रव्यका रेचन और अन्तरभावमें स्थिर होना कुम्भक है। चित्तकी एकाग्रताके लिए यही प्राणायाम है। 'योगवाशिष्ठ' में हठसे चित्तकी विजयको अनुपादेय माना गया है। ऊनोदरी या मिताहारके विषयमें सब यो ˊ एक मत है।

रस-परित्यागका अर्थ है विकृति बढ़ानेवाले रसोंका वर्जन या अस्वाद-वृत्ति। योग-साधना और -वृत्तिमें उतना ही विरोध है, जितना विरोध अहिंसा और भयमें है। साधक नित्य रसोंका सेवन न करे, मनोज्ञ आहार न करे, उसमें आसक्त न हो, उसकी स्मृति न करे, उसमें मतिका नियोग न करे।

का ˋश

काय क्लेशके चार प्रकार हैं—

१ आसन। २. पना सूर्यकी रश्मियोंका ताप लेना, शीतको सहन करना, निर्वस्त्र रहना। ३. विभूषा वर्जना। ४. परिकर्म शरीर-की सार-सम्भालका वर्जन। आसन दो प्रकारके होते हैं—शरीरासन और ध्यानासन। पतञ्जलिने आसनको 'स्थिर-सुख' कहा है। ध्यानासनके लिए दो अपेक्षायें हैं—१ शरीर स्थिर रहे, और २ सुखपूर्वक बैठा जा सके। जैन-परम्परामें वीरासन आदि कठोर और पद्मासन आदि सुखासन—इन दोनोंको सुखावह कहा गया है।

संलीनता

संलीनताके चार प्रकार हैं—

१. इन्द्रिय-संलीनता इन्द्रियोंके विषयोंसे बचना। २ कषाय-संलीनता क्रोध, मान, माया और लोभसे बचना। ३. योग-संलीनता मन, वाणी और शरीरकी प्रवृत्तिसे बचना। ४. विविक्त-शयन-आसन . एकान्त-स्थान-में सोना, बैठना। संलीनताकी आंशिक तुलना पतञ्जलिके प्रत्याहारसे

होती है। दोनोंके लिए उत्साह पूर्ति और स्थिरता आवश्यक होती है।

इसके चतुर्थ प्रकारमें दोनों जगहें पर ... निर्देश है। साधकके लिए श्मशान, शून्यागार और गुफा-कूप इन स्थानोंमें रहनेका विधान है। इसके ये छहों प्रकार विषयोंसे बचनेके साधन हैं। विकार आत्माका आन्तरिक दोष है। विषय आत्माका दोष नहीं है, वह विकारका निमित्त है। इसलिए उससे बचना आवश्यक होता है। निमित्तोंसे बचनेके साधनोंको बाह्य तप कहनेका कारण यही है। प्रायश्चित्त आदिसे आन्तरिक विकारोंका शोधन होता है, इसीलिए उन्हें आन्तरिक तप कहा गया है।

प्रायश्चित्त भूलके अनुरूप होता है। इससे साधनाका पथ प्रशस्त होता है। विनयका अर्थ है—ज्ञान या पूर्णके साधनोंका सम्मान। इसके सात प्रकार हैं १ ज्ञानका विनय २ दर्शन सम्यक् दृष्टिका विनय ३ चारित्रका विनय ४ मन विनय—मनका प्रशस्त प्रयोग ५ वचन विनय—वचनका प्रशस्त प्रयोग ६ काय विनय—आचार्यादिके चलना उठना बैठना सोना ७ लोकोपचार विनय—गुरुकी इच्छाका सम्मान करना उनके अनुकूल चलना उनका इच्छा पूरा करना आदि।

वैयावृत्य

साधकको सहयोग देना वैयावृत्य है।

स्वाध्याय

स्वाध्याय और ध्यान दोनों एकाग्रता साधनाकी अभिव्यक्तिके अनन्य साधन हैं। दोनों स्वाध्यायसे थके तो ध्यान और ध्यानसे थके तो स्वाध्याय करे। स्वाध्याय और ध्यानकी तन्मयतासे परम-आत्मा प्रकाशित होती है।

स्वाध्यायके पाँच प्रकार हैं—१ वाचना (पढ़ना) २ पृच्छना (प्रश्न करना) ३ परिवर्तना (याद किये हुए पाठको दोहराना) ४ अनुप्रेक्षा (चिन्तन) ५ धर्मकथा (धर्म चर्चा धर्म-वार्ता)।

शिष्यने पूछा, भन्ते ! स्वाध्यायका क्या फल है ?

भगवान्ने कहा, स्वाध्यायसे ज्ञानावरण क्षीण होता है ।

ध्यान

स्वाध्यायके पश्चात् ध्यानका क्रम है । पतंजलिने पूर्वतत्त्व धारणा माना है । इस तपोयोगमें धारणा कोई तत्त्व नहीं है । किन्तु जैन-परम्परामें 'एकाग्रमनःसंनि' ' जो है, उसकी तुलना धारणासे होती है । एकाग्रका अर्थ है कोई एक । उसमें मनको स्थापित करना लगाना या बाँध देना—एकाग्र मन सन्निवेशना है ।

पूछा, भन्ते ! एकाग्रमन सन्निवे क्या फल है ? भगवान्ने कहा, एकाग्रमन सन्निवेशनाका फल है—चित्त-निरोध । यही ध्यान है । जो अध्यवसाय चल है, वह चित्त है और जो स्थिर है, वह ध्यान है ।

ध्यानका पहला रूप है चित्तनिरोध और दूसरा रूप है शरीर, वाणी और मनकी प्रवृत्तिका पूर्ण निरोध । साधनाकी दृष्टिसे ध्यानके दो प्रकार हैं—धर्म्य तथा शुक्ल ।

ये दोनों आत्मलक्षी हैं । ध्यान पूर्वधर (विशिष्ट ज्ञानी) मुनियोंके होता है । उससे पहले धर्म्य-ध्यान ही होता है । उसके चार प्रकार हैं—

१. आज्ञा-विचय के अनुसार सूक्ष्म पदार्थोंका चिन्तन करना ।

२ -विचय हेय क्या है, इसका चिन्तन करना ।

३ विपाक-विचय : हेयके परिणामोंका चिन्तन करना ।

४ -विचय लोक या पदार्थोंकी आकृतियों, स्वरूपोंका चिन्तन करना ।

, अपाय, विपाक और संस्थान ये ध्येय हैं । जैसे स्थूल या सूक्ष्म आलम्बनपर चित्त एकाग्र किया जाता है, वैसे ही इन ध्येय विषयोंपर चित्तको एकाग्र किया जाता है । इनके चिन्तनसे चित्त-निरोध होता है, चित्तकी शुद्धि होती है इसलिए इनका चिन्तन धर्म्य-ध्यान कहलाता है ।

आज्ञा विचयसे वीतराग वाणीकी प्राप्ति होती है। अपाय विचयसे राग-द्वेष मोह और उनसे उत्पन्न होनेवाले दुःखोंसे मुक्ति मिलती है। विपाक विचयसे दुःख कैसे होता है? क्यों होता है? किस प्रवृत्तिका क्या परिणाम होता है? इसकी जानकारी प्राप्त होती है। संस्थान विचयसे मन अनासक्त बनता है। जिसकी उत्पत्ति व्यय और ध्रुवता जान ली जाती है उसके विविध परिणमन-परिवर्तन जान लिए जाते हैं तब मनुष्यका मन मोह घृणा हास्य शोक आदि विकारोंसे विरक्त हो जाता है।

ध्यान अर्थात् चित्त निरोध या चित्त विशुद्धिका आत्मिक व्यापार है। आलम्बन-आलम्बन यह आत्मसात परिवर्तन हो जाता है। मन बाहर ही भटकता है। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयको ग्रहण कर उसे प्रेषित करती हैं, इस लिए उसकी चंचलता और बढ़ जाती है। वह सम्पूर्ण विषयकी परिक्रमा करते चल जाता है। ध्यानका अर्थ है उस चंचलताको शेष विषयोंसे हटा किसी एक विषयपर स्थिर कर देना।

ज्यों-ज्यों स्थिरता बढ़ती है त्यों-त्यों मन शान्त और निष्प्रकम्प हो जाता है। शुक्ल-ध्यानके अन्तिम चरणमें मनकी प्रवृत्तिका पूर्ण निरोध पूर्ण संवर या समाधि प्राप्त हो जाती है। शुक्ल ध्यानके चार प्रकार हैं—

१ पृथक्त्व-वितर्क-सविचारि २ एकत्व वितर्क अविचारि ३ सूक्ष्म क्रिया-अप्रतिपाति ४ समुच्छिन्न क्रिया-अनिवृत्ति।

ध्यानीके अवस्थितिके चार प्रकार बतलाये हैं—१ विक्षिप्त २ यातायात ३ श्लिष्ट ४ सुलीन।

जैन-परम्पराके अनुसार वितर्कका अर्थ श्रुतावलम्बी चिन्तन है। विचारका अर्थ है परिवर्तन। पूर्वधर मुनि पूर्वश्रुतके अनुसार किसी एक द्रव्यका आलम्बन ले ध्यान करता है किन्तु उसके किसी एक परिणाम या पर्यायपर स्थिर नहीं रहता। वह उसके विविध परिणमनोंपर विचरण

करता है तथा शब्दसे अर्थपर और अर्थसे शब्दपर एवं मन, वाणी, और शरीरमें-से एक दूसरी प्रवृत्तिपर संक्रमण करता है, नाना दृष्टिकोणोंसे उसपर चिन्तन करता है। इसे पृथक्त्व-वितर्क सविचारी कहा है। पतञ्जलिने शब्द, अर्थ, ज्ञान आदि विकल्पोंसे संकीर्ण समापत्तिको सवितर्का माना है।

पूर्वधर मुनि पूर्वश्रुतके अनुसार किसी एक द्रव्यका आलम्बन ले उसके किसी एक परिणामपर चित्तको स्थिर करता है। वह शब्द, अर्थ और मन, वाणी तथा शरीरपर संक्रमण नहीं करता। वैसा ध्यान एकत्व वितर्क अविचारी कहलाता है। पहलेमें पृथक्त्व है, इसलिए वह सविचारी है। दूसरेमें एकत्व है, इसलिए वह अविचारी है।

पहला सवात-गृहका प्रदीप है और दूसरा निर्वात-गृहका। पतञ्जलिने शब्द, ज्ञान आदि विकल्पोंसे शून्य अर्थात् अर्थमात्रके साक्षात्कारको निर्वितर्का समापत्ति माना है। उनके अभिमतमें सवितर्का और निर्वितर्का स्थूल पदार्थविषयक है, सविचारा और निर्विचारा सूक्ष्म पदार्थविषयक है। जैन दृष्टिके अनुसार उक्त दोनों प्रकारोंमें स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारके पदार्थ आलम्बन बनते हैं। पतञ्जलि चारों समापत्तियोंको सबीज मानते हैं। जैन दृष्टिके अनुसार ये मोहके उपशमसे प्राप्त हों तो सबीज और मोहके क्षयसे प्राप्त हों तो निर्बीज होती है।

पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी अर्थात् भेद-प्रधान ध्यानका अभ्यास दृढ़ होता है, तब एकत्व-वितर्क-अविचारी अर्थात् अभेद-प्रधान ध्यान प्राप्त होता है। इसके अभ्याससे मोह क्षीण होता है, साथ-साथ ज्ञान और दर्शनके आवरण तथा अन्तराय क्षीण हो जाते हैं। आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग और अनन्त शक्ति-सम्पन्न बन जाता है। आयुष्य शेष रहता है, तबतक वह योगी जीता है। उसकी मृत्यु निकट होती है, तब उसके सूक्ष्म-क्रिय-अप्रतिपाति ध्यान होता है। इसमें पहले मनका, फिर वाणीका और फिर कायाका निरोध होता है। श्वास-जैसी सूक्ष्म-क्रिया बचती है।

पश्चात् उसका भी निरोध हो जाता है उसे समुच्छिन्न क्रिय अनिवृत्ति ध्यान कहा जाता है।

इसकी प्राप्ति होते ही पाँच ह्रस्वाक्षरों (अ इ उ ऋ लृ) के उच्चारण काल तक शरीरी रहता है फिर मुक्त हो जाता है। पतञ्जलिके शब्दोंमें शुक्ल ध्यानके प्रथम दो भेदोंको सम्प्रज्ञात और अंतिम दो भेदोंको असम्प्रज्ञात समाधि कहा जा सकता है।

धर्म ध्यानके चार लक्षण हैं।

१ आज्ञा रुचि राग-द्वेष छोड़ने रूप होनेसे जो शुद्ध—मिथ्या आग्रहका अभाव होता है।

२ निसर्ग-रुचि स्व-भावसे उत्पन्न सहज रुचि।

३ सूत्र रुचि सूत्रके अध्ययनसे उत्पन्न रुचि।

४ अवगाढ-रुचि तत्त्वके अवगाहनसे उत्पन्न रुचि।

धर्म-ध्यानके चार आलम्बन हैं—१ वाचना पढ़ाना २ पृच्छना पूछना ३ परिवर्तना दोहराना ४ अनुप्रेक्षा चिन्तन।

धर्म ध्यानकी चार अनुप्रेक्षाएं हैं—

१ एकत्वानुप्रेक्षा मैं अकेला हूँ ऐसी भावना।

२ अनित्यानुप्रेक्षा सब संयोग अनित्य हैं ऐसी भावना।

३ अशरणानुप्रेक्षा दूसरा कोई शरण नहीं है ऐसी भावना।

४ संसारानुप्रेक्षा जीव संसारमें परिभ्रमण कर रहा है ऐसी भावना।

शुक्ल ध्यानके चार लक्षण हैं—

१ अव्यथ व्यथाका अभाव कष्ट सहनेमें अचल मन।

२ असम्मोह सूक्ष्म पदार्थके विषयमें मूढ़ता न होना मायाजालमें न फँसना।

३ विवेक देह और आत्माका परिज्ञान भेद-ज्ञान संयोग त्याग।

४ व्युत्सर्ग शरीर और उपकरणोंसे निर्ममता।

शुक्ल-ध्यानके चार आलम्बन हैं—

१ क्षमा सहन करना, अक्रोध ।

२ मुक्ति निर्लोभता ।

३. मार्दव निरभिमानता ।

४ ˙ सरलता ।

शुक्ल-ध्यानकी चार अनुप्रेक्षाएं हैं—

१ अनन्तवृत्ति-अनुप्रेक्षा भव परम्परा अनादि है, ऐसी भावना ।

२ विपरिणामानुप्रेक्षा सब पदार्थ परिणमनशील हैं, ऐसी भावना ।

३ अशुभानुप्रेक्षा संसारके सब संयोग अशुभ हैं, ऐसी भावना ।

४ अपायानुप्रेक्षा आस्रव बन्धनके हेतु हैं, ऐसी भावना ।

धर्म्य-ध्यानके लिए श्रद्धा, स्वाध्याय और भावना अपेक्षित हैं, यह उसके लक्षण आ और अनुप्रेक्षाओंसे फलित होता है। शुक्ल-ध्यानके लिए आत्माके स्वभावका अवगाहन और भावना अपेक्षित हैं, यह उसके लक्षण आदिसे ज्ञात होता है। भावनाएं बारह हैं—१ अनित्य, २. अशरण, ३ संसार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशौच, ७ आस्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० धर्म, ११ लोक-संस्थान, और १२ बोधि। चार भावनाएं और हैं—१ मैत्री, २ प्रमोद, ३ करुणा, ४ माध्यस्थ्य।

इनमें प्रथम चार भावनाएं धर्म्य-ध्यानकी अनुप्रेक्षाएं हैं। अनन्तवृत्ति-संसारानुप्रे ही स्थिर अभ्यास है। विपरिणामको लोक, अपायको आस्रव और अशुभको अशौच भावना कहा जा सकता है।

व्युत्सर्ग

तपो-योगका १२वां प्रकार व्युत्सर्ग है। इसका अर्थ है—देहाध्यासकी मुक्ति, शरीरकी स्थिरता।

महाव्रत और तपोयोगमें पतञ्जलिके योगके छह अंग समाविष्ट हैं। प्राणायाम और धारणा—ये दो शेष रहते हैं। प्राणायामके विषयमें

ध्यान भावना क्या है ? यह जानना भी जरूरी है ।

साधनाके विषयमें कोई मतभेद नहीं है। साधना भी योगका एक अंग है। इसमें चित्त और वृत्ति दोनों एकाग्र किये जाते हैं। यहाँ भगवान महावीरकी ध्यान साधनाका उल्लेख हुआ है। यहाँ उन्हें एक पुद्गल निविष्ट दृष्टि और अनिमिषनयन रहा गया है? नासाग्र दृष्टिको भी बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। आचार्य हेमचन्द्रने जिनमुद्राकी विशेषता बतलाते हुए लिखा है— जिनेन्द्र ! आपकी और-और विशेषताओंको छोड़ता हो हूँ पर लोकोत्तर देहकी पर्यङ्कासन शिथिल शरीर और नासाग्र दृष्टि वाली आपकी मुद्रा भी नहीं सीखी। उत्तरवर्ती ग्रन्थोंमें चतुर्विध ध्यान आदि ध्यान और शुक्ल-ध्यान आदि ध्यानभेदोंकी चर्चा मिलती है। भगवान् महावीरने साधनाका जो क्रम प्रस्तुत किया उसमें अनशन और ध्यान इन दोनोंका समन्वय था। वह साधना-क्रम न केवल कष्ट-सहन था और न केवल ध्यान पर चित्तको एकाग्र करनेका प्रयत्न था। साधनाके लिए सहिष्णुता और एकाग्रता दोनों आवश्यक होते हैं। इस साधना-क्रममें दोनोंका सुमेल था। समय-परिवर्तनके साथ उसमें परिवर्तन हो गया। ध्यानका स्थान गौण हो गया और अनशन साधनाके सिंहासन पर आ बैठा। इसीलिए आजकलकी जैन-परम्पराको केवल अनशन या तपस्या कठोर मानते हैं।

भगवान् महावीरका साधना-काल साढ़े बारह वर्ष और तेरह पक्षका है। उसमें अनशन, आसन और ध्यानकी लम्बी-सी यही है। भगवान्‌ने इस अवधिमें तीन सौ उनचास दिन भोजन-पानी ग्रहण किया और उन्होंने निर्जल—अपानक अनशन कई बार स्वीकार की।

बारह बार एक रात्रिकी प्रतिमा स्वीकार की। भगवान्‌को जब केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ उस समय वे गोदोहिका आसनमें बैठे थे। दो दिनका उपवास था और ध्यानान्तरिकामें वर्तमान थे। भगवान् जब इस भूमिके पेढाल ग्राममें विहार कर रहे थे तब उन्होंने पोलास नामक चैत्यमें तीन दिनका उपवास

किया। कायोत्सर्ग मुद्रा की। उनका शरीर आगेकी ओर कुछ झुका हुआ था। दृष्टि एक पुद्गलपर टिकी हुई थी। आँखें अनिमेष थीं। शरीर प्रणिहित था, इन्द्रियाँ गुप्त थीं। दोनों पैर सटे हुए थे और दोनों हाथ प्रलम्बित थे। इस मुद्रामें भगवान्‌ने एक रात्रिकी महाप्रतिमा की।

सानुलट्ठि ग्राममें भगवान्‌ने भद्रा, महाभद्रा और सर्वतोभद्रा प्रतिमाएँ कीं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण इन चारों दिशाओंमें चार चार पहर कायोत्सर्ग किया जाये वह भद्रा प्रतिमा है। इसकी आराधना करने-वाला पहले दिन पूर्वाभिमुख हो कायोत्सर्ग करता है और रातको दक्षिणा-भिमुख हो कायोत्सर्ग करता है। दूसरे दिन पश्चिम दिशाभिमुख और रात-को उत्तराभिमुख हो कायोत्सर्ग करता है। भगवान्‌ने भद्राके अनन्तर ही महाभद्रा प्रतिमा प्रारम्भ कर दी। उसमें चारों दिशाओंमें एक दिन-रात कायोत्सर्ग किया जाता है। भगवान्‌ने चार दिन तक इसकी आराधना की। इसके अनन्तर सर्वतोभद्राका प्रारम्भ किया। उसमें दस दिन-रात लगे। चारों दिशाओंमें चार दिन-रात, चारों विदिशाओंमें चार दिन-रात और एक-एक दिन-रात ऊँची और नीची दिशाके अभिमुख हो कायोत्सर्ग किया। इस तरह सोलह दिन-रात तक भगवान् सतत ध्यानरत और उप-वासी रहे।

स्थानांगमें इनके अतिरिक्त सुभद्रा प्रतिमाका उल्लेख और मिलता है। उसका अर्थ आज ज्ञात नहीं है, वृत्तिकार अभयदेव सूरिको भी ज्ञात नहीं था। इनके अतिरिक्त समाधि प्रतिमा, उपधान-प्रतिमा, विवेक-प्रतिमा और व्युत्सर्ग-प्रतिमा, क्षुल्लिकामोक-प्रतिमा, महतीमोक-प्रतिमा, यवमध्या और वज्रमध्या आदि प्रतिमाओंका उल्लेख मिलता है। इनकी परम्परा लुप्त है और हृदय अज्ञात।

भगवान् महावीर प्राय मौन रहते थे। आसनस्थ होकर ध्यान करते। वे ऊँची-नीची और तिरछी तीनों दिशाओंमें स्थित पदार्थोंको अपना ध्येय
।

योगीके लिए निद्रा-विजय भी आवश्यक है। भगवान्‌के साधना-कालमें केवल एक मुहूर्त-भर नींद ली।

भगवान् प्रहर भर तिर्यक् भित्ति-दृष्टि टिकाकर ध्यान करते थे। भगवान्‌के शिष्योंके लिए भी ध्यान कोष्ठोपगत विशेषण प्रचुरतासे प्रयुक्त हुआ है। इसकी बड़ी परम्परा क्यों लुप्तप्राय हो गयी यह एक अन्वेषणीय विषय है।



जैन योग और आसन

जैन-साधना-पद्धति बहुत प्राचीन है। उसके बारह अंगों (तपस्याके बारह प्रकारों) का विकास भगवान् महावीरके समयमें ही हो चुका था। पाँच संवर भी उसी समय विकसित हो चुके थे। इस पद्धतिसे शरीर-विजय, -विजय, मनोविजय, कषाय-विजय और आत्म-वि ी अनेक प्रक्रियाओंका किया जाता था। इसे स । प्रभाव ही कहना चाहिए कि वे प्रक्रियाएँ आज विस्मृत-सी हो रही हैं। एक दिन मैं अपने कतिपय-साधुओंको आसन आदिके बारेमें बता रहा था। उस समय एक श्रावक आया। उसने हमारी चर्चा सुनी। विषय समाप्त होनेपर बोला, क्या अपने जैन-साहित्यमें भी आसनोंकी चर्चा है? मैंने कहा, भगवान् महावीर स्वयं बहुत आसन करते थे। उनके साधु भी बहुत आसन करते थे। जैन-साहित्यमें आसनोंपर काफी लिखा गया था। पर परम्परा लुप्त होनेके साथ-साथ वह विस्मृत हो गया। प्रकीर्ण रूपमें आज भी काफी मिलता है। उत्तराध्ययनके कार्यकालमें उसे संकलित करने और तद्-विषयक साहित्यका अ करनेका हमें अवसर मिला। वहाँ इस विषयकी विस्तारसे चर्चा की गयी है। उसका सारांश इस निबन्धमें दिया जा रहा है।

जैन-योगकी अनेक एँ —दर्शन-योग, ज्ञान-योग, चारित्र-योग, स्वाध्याय-योग, -योग, भावना-योग, स्थान-योग और गमन-योग। यहाँ मैं केवल स्थान और गमन-योगके बारेमें ही बताना चाहूँगा।

ओघनिर्युक्तिके भाष्य (१५२) में स्थानके तीन प्रकार बतलाये गये हैं—१ ऊर्ध्व स्थान २ निषीदन-स्थान ३ शयन स्थान। आचार्य [illegible] चार प्रकारकी क्रियाओंका निर्देश किया है—१ स्थान क्रिया २ [illegible]-क्रिया, ३ शयन क्रिया ४ [illegible] क्रिया।

स्थानका अर्थ है गतिकी निवृत्ति यानी स्थिर रहना। महर्षि पतंजलि योगके आठ अंगोंमें तीसरा अंग आसन बतलाया है। आसनका अर्थ है—बैठना। यह खड़े, बैठे और लेटे—तीनों अवस्थाओंमें किया जाता है, इसी दृष्टिसे आसनकी अपेक्षा स्थान शब्द अधिक अर्थ-सूचक है।

ऊर्ध्व स्थान—खड़े रहकर किये जानेवाले स्थान ऊर्ध्व-स्थान कहलाते हैं। उनके मुख्य प्रकार सात हैं—१ साधारण—मर्यादित भागकी भित्तिके सहारे निश्चल होकर खड़े रहना। २ सविचार—जहाँ स्थित हो वहाँसे दूसरे स्थानमें जाकर एक प्रहर, एक दिन आदि निश्चित काल तक निश्चल होकर खड़े रहना। ३ सन्निरुद्ध—जहाँ स्थित हो वहीं निश्चल होकर खड़े रहना। ४ व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग करना। ५ समपाद—पैरोंको समरेखामें स्थापित कर (सटाकर) खड़े रहना। ६ एक पाद—एक पैरसे खड़े रहना। ७ गृध्रोड्डीन—उड़ते हुए गीधके पंखोंकी भाँति बाँहोंको फैलाकर खड़े रहना।

निषीदन स्थान—बैठकर किये जानेवाले स्थानोंको निषीदन स्थान या आसन कहा जाता है। उसके अनेक प्रकार हैं—१ निषद्या २ वीरासन ३ पद्मासन ४ उत्कटिकासन ५ गोदोहिका ६ मकर-मुख ७ कुक्कुटासन।

योग-शास्त्र [illegible] आदि आसन भी निषद्या [illegible] हैं।

निषद्याके पाँच प्रकार हैं—१ समपुता—पुतोंको ऊँचा रखकर बैठना। २ गोदोहिका—गायको दोहते समय जिस आसनसे बैठते हैं, उस आसनमें

बैठना । ३ समपादयुता—पैरों और पुतों को सटाकर भूमिपर बैठना । ४ — । ५ का—अर्द्धपद्मासन ।

वृहत् में निषद्याके पाँच प्रकार कुछ परिवर्तनके साथ उपलब्ध होते है—१ समपादयुता, २ गोनिषद्यिका, ३. हस्ति-शुण्डिका, ४ पर्यंका, ५. अर्द्धपर्यंका ।

शयन-स्थान सोकर किये जानेवाले स्थानोंको -स्थान कहा जाता है । आगम सूत्रोंमे उसके चार प्रकार हैं । — धनासन और ऊर्ध्वशयन—ये दो प्रकार उत्तरवर्ती ग्रन्थोंमें मिलते हैं ।

१ लगण्ड-शयन—वक्रकाष्ठकी भाँति एड़ियों और सिरको भूमिसे सटाकर शरीरको ऊपर उठाकर सोना अथवा पीठको भूमिसे सटाकर शेष शरीरको ऊपर उठाकर सोना ।
२ उत्तान—सीधा लेटना ।
३ अधोमुख-शयन—औंधा लेटना ।
४ एक शयन—दायीं या बायीं करवट लेटना, एक पैरको सकुचित कर दूसरे पैरको उसके ऊपरसे ले र फैलाना और दोनों हाथोंको कर सिरकी ओर ।
५ मृतक शयन— ।
६ —औंधा होकर सोना ।
७ धनुरासन—पेटके बल सीधा लेट, दोनों पैरोंको ऊपरकी ओर उठाकर दोनों हाथोंसे उन्हें ना ।

गमन योग

यह स्थान-योगका प्रतिपक्षी है । इसके छह प्रकार हैं—
१ अनुसूर्यगमन—शेष धूपमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर जाना ।
२. प्रतिसूर्यगमन—पश्चिमसे पूर्वकी ओर जाना ।
३. ऊर्ध्व सूर्यगमन—सूर्य मध्याह्नमें हो, उस समय ।

४ विपद् दूतगमन—दूत भिजवा हो जब उसका जाना।

५ स्थ पन्नगमन—जहाँ व्यवस्थित हो वहाँसे दूसरे गाँवमें निवास जाना।

६ प्रत्यागमन—दूसरे गाँवमें जाकर वापस आना।

आसनोंकी चर्चा सूत्रकारने अलगसे नहीं की वयस्तिलक अभितगतिश्रावकाचार आदि ग्रन्थोंमें उल्लेख ही नहीं है किन्तु परवर्ती स्थानांग आदि प्राचीन आगमोंमें तथा दशाश्रुतस्कन्ध बृहत्कल्प आदि का सुयोग भी हुई है। आसन प्रक्रिया शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियोंसे बहुत उपयोगी है। उसे पुनर्जीवित करना हमारा कर्तव्य है।



कायोत्सर्ग और ध्यान

शरीर चंचल है और मन भी चंचल है। चंचलताको छोड़ दें तो जिया भी नहीं जा सकता। वह बहुत बढ़ जाये तब भी जीवनमें कठिनाई है। जीवनकी सफलता इसी अर्थमें है कि चंचलताके साथ स्थिरताका सन्तुलन हो। कायोत्सर्ग और ध्यान दोनों स्थिरताके रूप हैं। कायाकी स्थिरता कायोत्सर्ग है और मनकी स्थिरता ध्यान। जो व्यक्ति इन्द्रिय और मनकी दीवारोंको भेदकर आत्माके सान्निध्यमें रहना चाहता है, वह स्थान, मौन और ध्यानके द्वारा अपनी प्रवृत्तियोंका विसर्जन करता है। स्थान. कायाकी प्रवृत्तिका विसर्जन, कायोत्सर्ग या कायगुप्ति। मौन वाणीकी प्रवृत्तिका विसर्जन, वचनगुप्ति। ध्यान मनकी प्रवृत्तिका विसर्जन, मनोगुप्ति।

कायोत्सर्ग

कायोत्सर्गका शाब्दिक अर्थ है—शरीरका त्याग। यह हम अच्छी तरह जानते हैं कि जीतेजी शरीरका त्याग हो नहीं सकता। शरीरके त्यागका अर्थ है शरीरकी चंचलताका विसर्जन, शारीरिक ममत्वका विसर्जन—शरीर मेरा है इस भावनाका विसर्जन। प्रवृत्ति और ममत्व ये दोनों शरीर और मनमें तनाव उत्पन्न करते हैं। वह अनेक प्रकारकी शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न करता है।

शरीर-शास्त्रकी दृष्टिसे शरीरकी प्रवृत्ति और निवृत्तिके परिणाम इस प्रकार हैं—

प्रवृत्ति (तनाव) के परिणाम

१ लारकोष स्राव बनना कम होती है।

२ गैस्ट्रिक एसिड लारकोष कम होती है।

३ गैस्ट्रिक एसिडकी वृद्धि होनेपर उग्रता बढ़ती है।

४ स्नायु तन्त्रमें तनाव आता है।

५ रक्तमें प्राणवायुकी मात्रा कम होती है।

निवृत्ति (आराम) के परिणाम

१ एसिडका पुन स्नायु तन्त्रसे परिचालन होता है।

२ गैस्ट्रिक एसिडका स्राव कम होता है।

३ गैस्ट्रिक एसिडकी कमीसे उत्पादन कमी होती है।

४ स्नायुतन्त्रमें शान्ति आती है।

५ रक्तमें प्राणवायुकी मात्रा बढ़ती है।

स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी कायोत्सर्ग कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

स्वाभाविक तनाव और कायोत्सर्ग—मन, मस्तिष्क और शरीरका बहुत सम्बन्ध है। उनकी सामंजस्यविहीन गतिसे भी समस्या उत्पन्न होती है, यही स्वाभाविक तनाव है। शरीर और उसकी प्रतिक्रियाका असन्तुलन रहना, प्रवृत्तिकी बहुलता या न्यूनता, मानसिक चंचलता—ये इसके मुख्य कारण हैं। हम जब-जब कायक्रिया करते हैं अर्थात् शरीरको किसी दूसरे कामसे लगाते हैं और मन कहीं दूसरी ओर भटकता है, तब स्वाभाविक तनाव बढ़ता है। हम कायक्रिया करना सीख जाएँ—शरीर और उसकी एक ही काम सबका मनोयोग समान कर लें तो स्वाभाविक तनाव बढ़नेका अवसर ही न मिले।

जो लोग इस स्वाभाविक तनावके शिकार होते हैं, वे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यसे वंचित रहते हैं। वे लोग अधिक भाग्यशाली हैं, जो इस तनावसे मुक्त रहते हैं।

तनाव उत्पन्न करनेका कारण बताया जा चुका है। अध्यात्मसाधियोंने

उसके सात प्रकार बतलाये हैं—

१ इहलोक भय—मनुष्यको अपनी ही जाति—मनुष्यसे होनेवाला भय।

२ परलोक भय—मनुष्यको विजातीय—पशु आदिसे होनेवाला भय।

३ आदान भय—धन-विनाशका भय।

४ अकस्मात् भय—काल्पनिक भय।

५ आजीविका भय—आजीविका कैसे चलेगी—इस प्रकारका भय।

६ मरण भय—मृत्युका भय।

७ अश्लाघा भय—अपयशका भय।

ये भय मनुष्यके जीवनमें व्याप्त रहते हैं। इनके द्वारा [illegible] स्वाभाविक स्वभावसे बुरी तरह आक्रान्त होकर अशान्तिमय जीवन जीता है। जिसने अभयकी आराधना की है, उसे कोई कष्ट नहीं होता। भयभीत व्यक्ति पल-पलमें कष्ट पाता है। जि ` अभयकी आराधना की है, वह जीवनमें एक बार मरता है। भयभीत मनुष्य एक दिनमें कई बार मरता है। भय और हिंसामें गहरा लगाव है। जहाँ भय है, वहाँ निश्चित रूपसे हिंसा है। ` न-भय किये बिना अहिंसा हो ही नहीं सकती।

अनियन्त्रित भयसे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। मनोविज्ञानका सिद्धान्त है कि वियोगका भय जागृत होनेपर मनुष्य स्नायु-विकारसे ग्रस्त हो जाता है। वह दूसरोंपर अत्याचार करने व उन्हें अपने बन्धनमें रख लेता है।

येल विश्वविद्यालयने भयसे सम्बन्धित कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। उन्हें पढ़कर हम ` हैं कि भय हमारे शरीर और मनको कितना प्रभावित करता है। भयसे ये शारीरिक परिवर्तन देखे जाते हैं—दिलका धड़कना, नाड़ीका तेज चलना, मुँह या गला सूखना, काँपना, हथेलियोंमें पसीना आना और पेटका अन्दर धँसना। अन्तर भी गहरी प्रतिक्रियाएँ होती हैं, जैसे—विस्मृति, मूर्छा और पीड़ाकी तीव्र अनुभूति होना।

स्थानांग सूत्रमें असामयिक मृत्युके सात कारण बतलाये गये हैं। उनमें

मनात्मक अध्यवसाय अथवा मन स्थिर है।

रोगसे जनमे पीड़ा घट जाती है। विजयी रोगीकी अपेक्षा मनोहत रोगीको पीड़ाकी अनुभूति कई गुना अधिक होती है। मानसोपचारकोंने रोग-पीड़ित व्यक्तियोंपर प्रयोग किये; उनसे उनकी पीड़ामें बहुत अन्तर आया। कायोत्सर्गसे स्नायविक तनाव घटता है, उससे पीड़ा क्षीण हो जाती है और कायोत्सर्गसे मन कम होता है, तब पीड़ा भी कम हो जाती है।

क्रोध, अभिमान, माया, लोभ, राग, द्वेष, घृणा, शोक आदि मानसिक आवेगोंसे भी स्नायविक तनाव बढ़ता है। कायोत्सर्गसे उन आवेगोंका शमन होता है और फलतः स्नायविक तनाव अपने आप दूर हो जाता है।

कायोत्सर्ग कैसे किया जाये?—कायोत्सर्ग खड़े, बैठे और सोते तीनों अवस्थाओंमें किया जा सकता है। खड़ी मुद्रामें कायोत्सर्ग करनेकी रीति यह है कि कायोत्सर्ग करनेवाला दोनों हाथोंको घुटनोंकी ओर लटका दे, उन्हें ढीला छोड़ दे। पैरोंको सम रेखामें रखे और दोनों पंजोंमें चार अंगुलका अन्तर रखे। फिर सारे अंगोंको स्थिर रखे और शिथिल करे। किसी भी अंगमें तनाव न रखे।

बैठी मुद्रामें कायोत्सर्ग करनेवाला पद्मासन या सुखासन बैठे। हाथोंको या तो घुटनोंपर टिकाये या बायीं हथेलीपर दायीं हथेली रखकर अंकमें रखे। सब अंगोंको स्थिर और शिथिल बना दे।

सोती मुद्रामें कायोत्सर्ग करनेवाला पहले सीधा लेट जाये। सिरसे पैर तक सभी अवयवोंको पहले तान फिर क्रमशः उन्हें शिथिल करे। हाथों तथा पैरोंको परस्पर सटाये हुए न रखे। श्वास उच्छ्वास समयतान के लिए करना है। मनको श्वास-उच्छ्वासमें लगा एकाग्र या विचार शून्य हो जाये।

मनको शान्त व स्थिर करनेके लिए शरीरको शिथिल करना बहुत आवश्यक है। उससे चंचलता जाती है। स्थिरता अभ्याससे आती है।

शरीर उतना शिथिल होना चाहिए जितना किया जा सके। वह प्रतिदिन आध घण्टा शिथिल हो सके तो मन अपने-आप शान्त होने लगता है। शिथिलीकरणके समय मन पूरा खाली रहे—कोई चिन्तन न हो, जप भी न हो। यह न हो सके तो सो-ऽहम् – जैसे किसी शब्दका ऐसा प्रवाह हो कि बीचमें कोई दूसरा विकल्प न आये। श्वासकी गिनती करनेसे यह स्थिति सहज ही बन जाती है।

कायोत्सर्गका कालमान—कायोत्सर्गकी प्रक्रिया कष्टप्रद नहीं है। उससे शारीरिक विश्रान्ति और मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। इसलिए वह चाहे जितने लम्बे समय तक किया जा सकता है। कम पन्द्रह-बीस मिनिट तो करना ही चाहिए। कायोत्सर्गमें मनको श्वासमें लगाया है इसलिए कालमान श्वासकी गिनतीसे भी किया जा सकता है, जैसे सौ श्वासोच्छ्वासका कायोत्सर्ग, दो सौ, तीन सौ, पाँच सौ, हजार श्वासका कायोत्सर्ग आदि-आदि।

कायोत्सर्ग फल—कायोत्सर्गका मुख्य फल है—आत्माका सान्निध्य प्राप्त करना। गौण फल है—मानसिक सन्तुलन, बौद्धिक विकास और शारीरिक स्वच्छता। मानसिक स्वच्छता, स्नायुतनाव व कफसे उत्पन्न रोगोंके लिए यह अमूल्य रसायन है।

आचार्य भद्रबाहुने कायोत्सर्गके पाँच फल बताये हैं—

१ दैहिक जड़ताकी शुद्धि—श्लेष्म आदिके द्वारा देहमें जड़ता आती है। कायोत्सर्गसे श्लेष्म आदि दोष मिट जाते हैं। अतः उनसे उत्पन्न होनेवाली भी नष्ट हो जाती है।

२ बौद्धिक जड़ताकी शुद्धि—कायोत्सर्गमें चित्त एकाग्र होता है। उससे बौद्धिक जड़ता नष्ट हो जाती है।

३ सुख-दुःख तितिक्षा—सुख-दुःख सहनेकी शक्ति प्राप्त होती है।

४ शुद्ध भावनाका अभ्यास होता है।

५ ध्यानकी योग्यता प्राप्त होती है।

चेतनाके दो रूप हैं—चल और स्थिर। चल-चेतनाको चित्त और स्थिर चेतनाको ध्यान कहा जाता है। स्थिरताके दो रूप बनते हैं—एकाग्रता और निरोध।

एक वस्तुमें चित्तको स्थापित करनेका नाम एकाग्रता और उसे सर्वथा चिन्तन-शून्य करनेका नाम निरोध है। चित्तकी एकाग्रता और चित्तका निरोध ये दोनों ध्यान कहलाते हैं।

ध्यानकी विधि—ध्यान करनेसे पहले शरीरको स्थिर करें। वह बिल्कुल न हिले-डुले। फिर दो-तीन मिनिट उसे सुझाव दें कि वह शिथिल हो रहा है। फिर यह सुझाव दें कि श्वास शिथिल हो रहा है। शरीर और श्वास दोनों शिथिल हो जायें तब यह सुझाव दें कि मन शिथिल हो रहा है। जब मन शिथिल हो रहा हो उस समय या तो चिन्तन सर्वथा बन्द कर दें या न कर सकें तो मस्तक, भृकुटि आदि जो भी इष्ट हो उस वस्तुको लक्ष्य कर उसके ऊपर मनको एकाग्र करें। जो ध्येय हो उसे प्रत्यक्ष देखनेका प्रयत्न करें। जपमें शब्दोंकी पुनरावृत्ति की जाती है। किन्तु ध्यानमें उनकी पुनरावृत्ति नहीं की जाती, उनके अर्थको प्रत्यक्ष करनेका अभ्यास किया जाता है।

प्रियव्रत राजाका मंत्री था। उसे बहुत सम्मान प्राप्त था। एक दिन राजाको उसपर सन्देह हो गया। उसे मंत्री पदसे हटा दिया। सारी सम्पत्ति छीन ली। अब वह धन और सम्मान दोनोंसे रहित हो गया। अपने कुटुम्बको लेकर वह कहीं चल पड़ा। मार्गमें एक मुनि मिले। वे ध्यान मुद्रामें खड़े थे। मंत्रीने उन्हें वन्दना की। मुनिने ध्यान पूरा किया। मंत्रीने पूछा—गुरुदेव! सम्पत्ति सब क्षीण हो गयी, उपाय बतलाइए। मुनिने कहा—चित्त निश्चल किये बिना ध्यान हाथ नहीं लगता। मंत्री बोला—गुरुदेव! अनन्त विपाक देख चुका हूँ। क्या अब भी चित्त निश्चल नहीं होगा? मुनिने उसकी प्रबल इच्छा देखी और कहा

ध्यानमें सब दुःख दूर हो जाते हैं। पर यह कैसे किया जाये भगवन्!—मन्त्रीने पूछा। मुनिने कहा, ध्यान करनेवाला पद्म या उत्कटिका आदि आसन मार बैठे। आँखें या तो मुँदी हुई हों या अधखुली। वे यदि खुली हों तो मानसिक कल्पनामें उन्हें वहीं नासाग्रपर केन्द्रित किया जाये।

ध्यान कालमें आसन कष्टदायी नहीं किन्तु सुखासन होना चाहिए। ध्यानके लिए सामान्यतः पद्मासन, पर्यंकासन, कायोत्सर्गासन आदि आसन सुझाये गये हैं। किन्तु ये ही आसन होने चाहिए, ऐसा आग्रह नहीं है। आचार्य शुभचन्द्रने लिखा है—जिस आसनमें बैठनेपर मन स्थिर रहे, वही आसन करणीय है।

येन येन सुखासीना विदध्युर्निश्चलं मनः।
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम्॥ (ज्ञानार्णव)

ध्यानका फल—इसे स्पष्ट करनेके लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है—पुराने जमानेकी बात है। मगध देशमें देवपुर नामका नगर था। वहाँ दो मित्र थे। एकका नाम राम था। वह बनियेका बेटा था। दूसरेका नाम था नागदत्त। वह ब्राह्मणका बेटा था। इन दोनोंमें बहुत प्रेम था। वे सुखसे रह रहे थे। एक दिन वहाँ राज्य-विद्रोह हो गया। चारों ओर लूट मच गयी। तब वे दोनों वहाँसे दौड़े और दक्षिणापथकी ओर चले गये। एक बार वे दोनों काठ लानेके लिए जंगल गये। वहाँ महाबल नामके साधु कायोत्सर्ग मुद्रामें खड़े थे। ध्यानलीन होनेके कारण वे पर्वतकी भाँति अडोल थे। उन्होंने साधुको देखा। यह जीवनमें पहला ही अवसर था। वे उन्हें अपलक देखते रहे। थोड़ी देर बाद एक बड़ा-सा साँप बिलमें-से निकला और सीधे साधुके पास आ पहुँचा। उन्हें डस वापस बिलमें घुस गया। साधु अब भी वैसे ही खड़े थे। ध्यानसे जरा भी विचलित नहीं हुए। उनके शरीरमें विष भी नहीं व्यापा। राम और नागदत्तको बहुत आश्चर्य हुआ। साधुने कायोत्सर्ग पूर्ण किया। वे साधु-के पास गये, वन्दना की और बोले—भगवन्! साँपने आपको काटा

तो आपपर उसका असर नहीं हुआ ? आप इस प्रकार कायोत्सर्ग रहते हैं क्या आपको सर्दी-गर्मीसे कष्ट नहीं होता ? साधुने कहा महानुभावो ! जो ध्यान-कोष्ठमें स्थित होता है वह बाहरी स्थितिसे प्रभावित नहीं होता । सर्दी-गरमी आदिसे बाधित नहीं होता । यह मेरा अनुभव है ।

इस ध्यान-कोष्ठमें बैठ जानेपर कोई असर नहीं होता और न देव हमारे उपस्थित अग्नि भी अपना प्रभाव दिखा पाती है । भयंकर कोलाहल यहाँ बाधा नहीं डाल सकता और सांप आदि विषैले जन्तु यहाँ पीड़ा उत्पन्न नहीं कर सकते । इन शारीरिक कष्टोंकी क्या बात करते हो तुम ? यहाँ मानसिक कष्ट भी नहीं पहुँच पाते हैं ? चिन्ता विषाद शोक आदि जितने मानसिक कष्ट हैं वे सब ध्यानलीन व्यक्तिके सामने निर्वीर्य बन जाते हैं ।



मनकी दो अवस्थाएँ होती हैं—गत्यात्मक और स्थित्यात्मक। गत्यात्मक अवस्थाको मन और स्थित्यात्मक अवस्थाको ध्यान कहा जाता है। ध्यान करते समय मन संकल्पोंमें भर जाता है। एक-एक कर पुरानी स्मृतियाँ उभरने लग जाती हैं। सहज प्रश्न होता है, इसका क्या कारण है? जब मनकी प्रवृत्ति होती है तब उसमें चंचलता नहीं होती जितनी उसको स्थिर करनेका प्रयत्न करनेपर होती है। हम गहराईमें जायें तो पायेंगे कि चेतना चंचल नहीं होती। मन चेतनाका एक अंग है वह भला कैसे चंचल हो सकता है। वह वृत्तियोंके चापसे चंचल होता है। वृत्तियों-का जितना चाप होता है उतना ही वह चंचल होता है और वृत्तियाँ जितनी शान्त या क्षीण होती हैं उतना ही वह स्थिर होता है, यानी ध्यान होता है। घा [illegible] जल स्थिर पड़ा है। उसमें एक ढेला फेंका और वह चंचल हो गया। यह चंचलता स्वाभाविक नहीं, किन्तु बाह्यके सम्पर्कसे उत्पन्न है। ठीक इसी प्रकार मनकी चंचलता भी स्वाभाविक नहीं किन्तु वृत्तियोंके सम्पर्कसे उत्पन्न होती है। मनकी चंचलता एक परिणाम है। वह हेतु नहीं है। उसका हेतु है—वृत्तियोंका जागरण।

वृत्तियाँ दो प्रकारकी होती हैं—सत् और असत्। असत्से सत्की ओर जाना पहला चरण है और दूसरा चरण है असत्को क्षीण करना। असत्में मन चंचल रहता है, सत्में शान्त और असत्को क्षीण करनेपर वह अतिमात्र शान्त हो जाता है। इस सारी प्रक्रियाको मनोगुप्ति कहा जाता है। गुप्त मनकी तीन अवस्थाएँ हैं—१ कल्पना, विमुक्त, २, समत्व-

प्रतिष्ठित १ आत्माराम।

विमुच्य कल्पनाजालं, समत्वेषु प्रतिष्ठितम्।
आत्मारामं मनस्तज्ज्ञैः मनोगुप्तिरिहोदिता ॥

कल्पनाविमुक्त — अनेकों एक साथ आनेवाले विकल्पों का वर्णन। इसे अनवरत कल्पनाजाल अभाव करनेके लिए उन कल्पनाओंका आलम्बन लिया जाता है। उन कल्पनाओंका विवरण अनेक प्राचीन साहित्यमें मिलता है।

कल्पना करें कि तुम अकेले हो। उसके चार पत्र हैं। बीचमें एक कर्णिका है। चार पत्ता और कर्णिकापर क्रमशः अ सि आ उ सा लिखा हुआ है। प्रत्येक अक्षर ज्योतिर्मय है और वह प्रदक्षिणा करता हुआ घूम रहा है। यह कल्पना पुष्ट होगी तो दूसरी कल्पनाएं अपने-आप विलीन हो जायगी।

दो नासाग्र दो आँख दो कान और एक मुख—ये सात स्थान हैं। इनपर क्रमशः न मो अ रि ह ता णं—इन सात अक्षरोंका ध्यान किया जाय। मन और श्वासका ध्यान साथ-साथ हो। इससे मन की कल्पनाएं लुप्त हो जाती हैं। इस प्रकार ऐसे उपाय साधनाकी सभी परम्परामें प्राप्त होते हैं।

समत्वमें प्रतिष्ठित वृत्तियाँ नहीं रहती हैं। वे निमित्तका योग पाकर उत्तेजित होती हैं और उभर जाती हैं। उनकी उत्तेजनाका बहुत बड़ा निमित्त है विषमता। जब-जब मनमें विषमताके भाव आते हैं तब-तब वह चंचल अधीर और विक्षिप्त हो जाता है। अमुक व्यक्तिने मेरा सम्मान किया है और अमुकने अपमान। सम्मान और अपमानकी स्मृति होते ही मन चंचल हो उठता है। किन्तु जिसका मन सम्मान और अपमान दोनोंको ग्रहण नहीं करता तथा दोनोंको आत्मासे बाह्य मानता है उसका मन समतामें प्रतिष्ठित रहता है। उसे सम्मान और अपमानकी स्मृति ही नहीं होती तब वह उनके कारण चंचल अधीर या आक्रान्त कैसे हो

सकता है ? इस प्रकार राग-द्वेषजनित जितनी विषमताएँ हैं, उनको ग्रहण नहीं करनेवाला मन समतामें प्रतिष्ठित होता है।

आत्माराम यह गुप्त मनकी तीसरी अवस्था है। इसमें चेतनाके अतिरिक्त कोई बाह्य आलम्बन नहीं होता। मन आत्मामें विलीन हो जाता है। वह कषाय (बाहरी रंगों) से मुक्त होकर शुद्धोपयोग (शुद्ध-चेतना) में परिणत हो जाता है। इस स्थितिको इन शब्दोंमें भी समझाया जा सकता है कि यहाँ शुद्ध चेतनासे भिन्न मनका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता।

ध्यान और शून्यता ध्यान अवस्था शून्य अवस्था है, किन्तु इस तथ्यको अनेकान्तकी भाषामें समझना चाहिए। ध्यानमें जितनी बाह्य विकल्पोंकी शून्यता होती है, उतनी ही आत्मिक जागरूकता बढ़ जाती है। इसीलिए आत्मा शून्याशून्य स्वभाव है। प्रश्न उठता है कि यदि मनको शून्य करना ही ध्यान है तो फिर नींद भी ध्यान है। नींदमें आन्तरिक जागरूकता नहीं रहती। वह स्वयं एक वृत्ति है, इसलिए वह ध्यान नहीं है। विचार-शून्यता भी ध्यान नहीं है। इसे ध्यान माना जाये तो मूर्च्छाको भी ध्यान मानना होगा और वह ध्यान नहीं है। वहाँ चेतनाकी विस्मृति है। ध्यान वह होता है जहाँ चेतनाकी जागृति हो।

ध्यान तदात्मकता ध्यान करनेवालेको तदात्मक होनेका अभ्यास डालना चाहिए, अर्थात् जिसका ध्यान करे उसके साथ एकात्मकता स्थापित करनी चाहिए। क्रियाके साथ भी तदात्मकता हो तो वह भी ध्यान हो जाता है। जो बोले उसमें मनका योग साथ रहे तो वह बोलना भी ध्यान है। जो करे उसमें मनका योग साथ रहे तो वह करना भी ध्यान है। तन्मयतासे जो किया जाता है, वह सब फलदायी होता है। ध्यान करनेवाला ध्येयको सम्प्राप्तिके लिए अपने शरीर व मनको शून्य बना लेता है। ऐसा करनेपर ध्येय और ध्यातामें एकात्मकता हो जाती है। इसीको योग-शास्त्रके आचार्योंने एकीकरण, समापत्तिभाव, समापत्ति या समाधि कहा है।

ध्यानकी सफलताके लिए चार कारणोंपर ध्यान देना चाहिए—

१ गुरुदेव—ऐसे गुरुसे मार्ग-दर्शन लेना चाहिए जो अनुभवी हो। २ श्रद्धा—अपनी क्रियाके प्रति आत्यन्त दृढ़ विश्वास होना चाहिए। प्रक्रिया ठीक होगी तो अवश्य परिणाम आयेगा ऐसी निष्ठा होनी चाहिए। ३ सतत अभ्यास—आज किया कल नहीं ऐसी अनियमितता नहीं होनी चाहिए। अभ्यास सतत करना चाहिए। ४ मनकी एकाग्रताका दृढ़ अभ्यास होना चाहिए।



एकाग्रता

आजका युग प्रगतिका युग है। प्रत्येक पदार्थ प्रगतिशील है। हजारों मीलोंकी दूरी कुछ क्षणोंमें नापी जा सकती है।

गतिशीलता वस्तुका एक पक्ष है। दूसरा पक्ष है स्थितिशीलता। आज वस्तुका पहला पक्ष प्रबल है, दूसरा निर्बल। आवश्यकता है गति और स्थितिका सन्तुलन रहे। अनन्त आकाशमें वेगसे गतिशील वस्तु कहाँ जाकर टिकेगी? आखिर स्थितिका सहारा लेना ही पड़ेगा।

मानव-जीवनकी यही दशा है। मानसिक चंचलता अधिक है, स्थिरता कम। प्राचीन आचार्योंने एकाग्रताको ध्यान कहा है। उससे कठिन कार्य भी सरल हो जाता है।

द्रोणाचार्य शिष्योंसे पूछते गये—तुम क्या देख रहे हो? उत्तर मिलता गया—यह, वह, अमुक और वे लक्ष्यकी पूर्तिमें असफल होते गये। आखिर अर्जुन आया, उससे पूछा—तुम क्या देखते हो? उत्तर मिला—और कुछ नहीं, सिर्फ राधाको देख रहा हूँ। वह सफल हुआ, उसने लक्ष्यको बींध डाला।

मानसिक आवेग रोके बिना सन्तुलन नहीं रहता। बाहरी संयोग उसे और बढ़ा देते हैं। एकाग्रता आवेग और मानसिक अनियमिततापर विजय पानेका एक मार्ग है। एकाग्रताकी कला हस्तगत होनेसे शेष कलाएं हस्तगत हो जाती हैं। विद्यार्थियोंके लिए यह विशेष आवश्यक है। अनुशासनहीनताका दुष्परिणाम किसीसे छिपा नहीं है। एकाग्रताकी साधनासे सहिष्णुता, तितिक्षा, आत्मानुशासन आता है। इसलिए उसका

जीवनव्यापी मन्त्र है। कोर शब्दकी ध्वनि चार होने-लगा है। चार हुए कोई हो सकता है।

बहा दारो बहुत मारवाड़ी आलस्य वानी न हु बहुमस्स'

विद्याकी आराधनाके साथ सत्य—श्रद्धा और आचारकी आराधना अपेक्षित है। ऐसा लगता है आज ज्ञानकी आराधनासे भी ध्यानकी आराधना अत्यावश्यक है। श्रद्धाकी शृंखला टूट गयी है। मनुष्यको अपनेपर भी विश्वास नहीं है। इसीका ही परिणाम है कि अनुशासनहीनता, उच्छृंखलता और मानसिक अस्थिरता बढ़ रही है। इससे मुक्ति पानेके लिए श्रद्धा और एकाग्रता परम अपेक्षित है।



भाव-क्रिया और अनावेग

"सुत्ता अमुणिणो मुणिणो सया जागरन्ति"

जो मुनि नहीं होते वे सदा सोते रहते हैं और मुनि सदा जागते रहते हैं। यह सतत जागरण ही भाव-क्रिया है।

प्रत्येक प्रवृत्तिके तीन साधन हैं—मन, वाणी और शरीर। इनमें एक चेतन और शेष दोनों जड़ हैं। वाणी और शरीरकी प्रवृत्तिमें मन साथ रहे तो वह सजीव बन जाती है, अन्यथा वह निर्जीव-सी होती है। जीवनकी प्रत्येक प्रवृत्ति भाव-क्रियात्मक होनी चाहिए। हम चलें तो हमारा मन चलनेमें लगे, हम बैठें तो हमारा मन बैठनेमें रहे। इसी प्रकार खायें तो खानेमें, बोलें तो बोलनेमें और जो कुछ भी काम करें उसीमें मन बराबर साथ दे। 'उत्तराध्ययन'में चलनेकी विधि बतलायी है, वह भाव-क्रिया है। वहाँ कहा गया है, जब तुम चलो तब मनको इन्द्रियोंके विषयोंसे हटा लो, स्वाध्यायसे हटा लो। एकमात्र चलनेको ही सामने रखो। चलनेमें ही मनको केन्द्रित कर चलो। एक क्रियामें शक्ति लगानेसे वह निखर जाती है अन्यथा वह बिखर जाती है।

जो करो वह तन्मय होकर करो, चित्तको वहीं लगाओ। लेश्याको वहीं नियोजित करो, अध्यवसाय वैसा ही बनाओ। उसके लिए समर्पित हो जाओ, उसीमें उपयुक्त हो जाओ, तुम्हारी क्रिया भाव-क्रिया होगी, सजीव क्रिया होगी। अन्यथा तुम द्रव्य-क्रिया—निर्जीव क्रियासे चिपकते

रहोगे। क्रियाके साथ मनका तादात्म्य होनेसे भाव क्रिया बन जाती है। इसीलिए आचार्य हरिभद्रने सभी क्रियाओंको योग माना है। महाकल्पक मुनि (जो एक क्षणके लिए भी प्रमाद नहीं करता) की तरह सतत भाव रखना कठिन है फिर भी भाव क्रिया आवश्यक है। इसका अभ्यास चित्त वृत्तिको रोकनेका एक साधन है। हमारा अधिक समय भूत और भविष्य में जाता है। इस वर्तमानमें रहना सीखें। भोजन करते समय जीभकी स्वाद और आदतोंको रोकना निश्चय पूरती है। वर्तमानमें रहना ही भाव क्रिया है और यह साधनाकी आधारशिला है।

अनावेश — अपनेसे प्रतिकूल व्यक्तिकी परिस्थितिमें हमें क्रोध होता है। एक व्यक्ति पहले आवेशमें नहीं आता पर दूसरेके कुछ कहनेपर आवेशसे अपनेको बचा भी नहीं पाता। अपनेको निर्दोष बताते हुए कहता है— मैंने पहले आवेश नहीं किया। क्या पीछे किया वह आवेश नहीं है? किन्तु उसका उत्तर यह— आवेश तो है ही। पहले आवेशमें न आना अच्छा है पर पीछे भी न करना बहुत मुश्किल है। पीछेसे वैसा करनेकी प्रवृत्ति मानसिक दुर्बलताके कारण बहुत बढ़ती है। पर साधक साधनाका पथ लिए चलता है इसलिए उसे रोकनेका अभ्यास करना चाहिए। अभ्यासके साधन ये हैं—१ कोई व्यक्ति बात कहे तो तत्काल उत्तर न दें। आवेशमें प्रत्यक्ष उत्तेजना आती है क्योंकि गलती पकड़ी है इसलिए उस समय बातको टाल कर देना चाहिए। २ उत्तर देनेपर निवारण न हो सके तो प्रकृति तत्काल उसपर ध्यान चला जाना चाहिए।

यह सिद्धान्त लेकर चलना ठीक है कि—

> बोलत वचन अनन्त, न छूटे मौन रहूँ।
> मौन न बोले सोच, बोले तो मौन रहूँ॥

यदि यह सिद्धान्त है तो परिश्रम क्यों किया जाता है। परिश्रमका अर्थ है—स्वभाव परिवर्तन। उसका स्वीकार भी जाती है कि उसके

स्वभावमें परिवर्तन आता है। स्वभावमें परिवर्तन न आये तो साधनाका कोई मूल्य नही है। चरित्रमें दृढ आस्था होनेसे स्वभावमे परिवर्तन अवश्य है।



मोह-व्यूह

प्राचीन समयमें युद्धके प्रसंगमें व्यूहकी रचना की जाती थी। जैसे चक्र-व्यूह, गरुड़-व्यूह आदि-आदि। वे दुर्भेद्य व अभेद्य होते हैं। उन्हें तोड़े बिना शत्रुकी सेना प्रवेश नहीं कर सकती थी। साधना भी एक युद्ध है। उसका प्रतिपक्षी है मोह। उसकी व्यूह रचना बड़ी विकट है। उसे तोड़े बिना कोई साधक आगे नहीं बढ़ सकता। उसे तोड़नेसे पहले उसकी व्यूह रचनाको समझना होता है।

कल्पना कीजिए—मोह एक साम्राज्य है और मिथ्यात्व उसका प्रधान मन्त्री। उसके दो पुत्र हैं ममकार और अहंकार। ये दोनों सेनापति हैं। जो आत्मासे भिन्न पदार्थ हैं उनमें आत्मीयताका अभिनिवेश होता है, वह ममकार है। जैसे—यह मकान मेरा है, यह परिवार मेरा, मित्र आदि-आदि। यह मोह-व्यूहका प्रथम चक्र है। कर्म-जनित भाव स्वाधीन अपना आरोप करना अहंकार है। मैं बलवान् हूँ, मैं अधिकारी हूँ आदि-आदि।

आत्मा निरुपाधि है। उसके पीछे कोई उपाधि नहीं है। वह न किसीसे छोटा है और न किसीसे बड़ा। उसमें छोटे-बड़ेका भेद नहीं है। वह न किसीका सेवक है और न किसीका स्वामी। उसमें स्वामी-सेवकका भेद नहीं है। छोटा बड़ा स्वामी-सेवक ये सारी उपाधियाँ हैं। जितनी उपाधियाँ हैं वे सब कर्मोंसे मिलती हैं। निश्चय-से कोई उपाधि नहीं मिलती। पूज्यताकी ओर बड़प्पनकी कोई उपाधि नहीं चाहता। उपाधि चाहनेवाला दूसरा मनुष्यकी ओर जाता है। अहंकार उसे

मोह-व्यूहको तोडकर आगे नहीं जाने देता। ममकार और अहंकारसे राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। जिनके प्रति व्यक्तिका ममकार होता है उनमें उसका राग उत्पन्न होता है। जिन अवस्थाओंके प्रति अहंकारकी मान्यता होती है उनमें भी राग होता है। ममकार और अहंकारमें बाधा डालने-वालेके प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। इस प्रकार ममकार और अहंकारसे राग और द्वेषकी सृष्टि होती है।

राग और द्वेषसे कषायकी उत्पत्ति होती है। कषायके चार अंग हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। रागात्मक भावनासे माया और लोभ उत्पन्न होते हैं। द्वेषात्मक भावनासे क्रोध और अभिमान उत्पन्न होते हैं। इस कषायमें नोकषायकी सृष्टि होती है—भय, रोग, घृणा, विकार आदि उत्पन्न होते हैं। इन आन्तरिक प्रेरणाओंसे मन, वचन और शरीर प्रवृत्त होते हैं। प्रवृत्तिसे हिंसा आदि दोष उत्पन्न होते हैं। उनसे बन्धन होता है। बन्धनसे पुनर्जन्म होता है। शरीरकी रचना होती है। इन्द्रियाँ निष्पन्न होती हैं। इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होता है। उनमें राग और द्वेष होता है। राग-द्वेषसे बन्धन और बन्धनसे फिर जन्म—इस प्रकार यह व्यूह चलता जाता है। इसका कभी अन्त नहीं होता।

हम जबतक मान्यताओंके जगत्‌में रहते हैं मोहकी गाँठ नहीं खुलेगी। वह तब खुलेगी जब हम व्यवहारसे ऊपर उठकर निश्चयके जगत्‌में प्रवेश पायेंगे। वहाँ हमारा ज्ञान मिथ्या नहीं होगा। मिथ्याज्ञानसे मिथ्याज्ञानका आवरण नहीं फट सकता। किसी जमानेकी बात है—एक राजाने एक सन्यासीको निमन्त्रित किया। सन्यासी नगरमें घुमा तो उसने देखा—उनके मार्गमें बहुत बढ़िया कालीन बिछाये गये हैं। वह अपने मार्गमें थोड़ा हटा और पासके गटेमें जा गिरा। साथके लोगोंने हाथ पकड़ उसे बाहर निकाल लिया। उसके पैर कीचड़में सन गये। लोगोंके अनुरोध करनेपर भी उसने पैर नहीं धोये। वह कीचड़से सने पैरोंसे ही कालीनोंपर चलने लगा। राजाने यह देखा तो उससे रहा नहीं गया। वह सन्यासीके

पास आया और बोला महाराज ! आप क्या कर रहे हैं? सन्यासी बोला राजाके अहंकारको चूर कर रहा हूं। राजाने मुस्कानके साथ कहा महाराज ! क्या अहंकारसे अहंकारको दूर किया जा सकता है?

अहंकारसे अहंकारको दूर नहीं किया जा सकता तो मिथ्याज्ञानसे मिथ्याज्ञानको कैसे हटाया जा सकता है? मोह-व्यूहको तोड़नेका सबसे पहला उपाय है—सम्यग्ज्ञान। हमारा ज्ञान सम्यक् हो वचन सम्यक् हो भावनाएं सम्यक् हों और व्यापार सम्यक् हों तभी हम ममकार और अहंकारकी वृत्तिको निर्मूलित कर सकते हैं। इसपर नियन्त्रण पा लेनेके बाद हम उन पदार्थोंको अपना नहीं मानेंगे जो आत्मासे भिन्न हैं। हम उन वस्तुओंमें अहंत्व आरोपित नहीं करेंगे जो आत्माकी अपनी नहीं हैं। ऐसा होनेपर राग-द्वेष, क्रोध आदि जैसे मनोभाव जो मोहके मूलमें अपना सिंचन किए बिना पूर्ण मुरझाए जाते हैं। उनके मुरझा जानेसे मन अपने आप एकाग्र स्थिर या निश्चल हो जाता है। इसीको हम ध्यान कहते हैं। ध्यान इन्द्रियोंसे प्राप्त नहीं किया जा सकता है। उसकी प्राप्ति आत्म स्वभावकी शक्तिसे होती है। ज्यों-ज्यों ध्यान परिपक्वता पाता है वैसे वैसे मोह-व्यूह छिन्न भिन्न होता जाता है। एक दिन ध्यान उस बिन्दुपर पहुंच जाता है कि उसकी अजेय शक्तिसे परास्त होकर मोहका व्यूह पूर्ण रूपेण ढह जाता है।



आवेग और उप-आवेग

मानसिक आवेगो एव उप-आवेगोके अनेक प्रकार है। आवेग चार है—१ क्रोध, २ मान, ३ माया, ४ लोभ। ये अपनी-अपनी मात्राके अनुसार मानसको प्रभावित करते है। मात्रा भेदके अनुसार ये मुख्यतया चार भागोमे विभक्त होते है—१ अल्प, २ तीव्र, ३ तीव्रतर, ४ तीव्रतम।

तीव्रतम क्रोध आदि व्यक्तिके सम्यग् दृष्टिकोणमे विकार ला देते है। तीव्रतर क्रोध आदि आत्म-नियन्त्रणकी शक्तिको छिन्न-भिन्न कर डालते है। तीव्र क्रोध आदि आत्म-नियन्त्रणकी शक्तिके उच्चतम विकासमे बाधक होते है। अल्प क्रोध आदि व्यक्तिको पूर्ण वीतराग नही होने देते।

भय, शोक, घृणा, हास्य, रति, अरति, और काम-विकार—ये उप-आवेग है। ये भी व्यक्तिके जीवनको बहुत प्रभावित करते है। क्रोध आदिकी शक्ति तीव्र होती है, इसलिए वे आवेग है। वे व्यक्तिके शारीरिक और मानसिक स्थितिको प्रभावित करनेके अतिरिक्त उसके आन्तरिक गुणो – सम्यग् दृष्टिकोण और आत्म-नियन्त्रणको भी प्रभावित करते है। भय आदि उप-आवेग व्यक्तिके आन्तरिक गुणोको उतना प्रत्यक्षत प्रभावित नही करते जितना शारीरिक और मानसिक स्थितिको करते है। उनकी शक्ति अपेक्षाकृत कम होती है, इसलिए वे उप-आवेग है। आन्तरिक गुणोमे होनेवाला प्रभाव बहुत सूक्ष्म होता है अत वह सहजभावसे पहचाना नही जाता। आवेगो और उप-आवेगोका शरीर और मनपर जो प्रभाव होता है, उसकी जानकारी हमे चिकित्सा-शास्त्रकी पुरानी और नयी

इसी धारणाके साहित्य-प्राप्त प्राप्त होती है। योग-शास्त्रमें भी इसकी चर्चा मिलती है। कुछक उदाहरण इस प्रकार हैं—

मानसिक चिन्ता निराशा भय काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य आदि मानसिक भावनाके द्वारा रोग उत्पन्न होता है। भय चिन्ता क्रोध मद मोह मात्सर्य आदि मानसिक भावनाओंसे पुरुषका वीर्य पतला हो जाता है और स्त्रीके रजोविकारका रोग उत्पन्न होता है। मानसिक चिन्ता अत्यधिक व्यग्रता और क्रोधके कारण क्षय रोग उत्पन्न होता है। ईर्ष्या और द्वेष यकृत और तिल्लीको प्रभावित करते हैं। क्रोध और घृणासे गुर्दे विकृत होते हैं तथा रक्त विषाक्त बनता है। चिन्ता और उदासीनतासे फेफड़े दुर्बल होते हैं, जीवनतत्त्व विकृत और रक्त दूषित होता है। विषय-वासनाकी प्रबलतासे वीर्य विकार—प्रमेह आदि उत्पन्न होते हैं। ईर्ष्या भय क्रोध लोभ द्वेष प्रद्वेष आदि मनोविकारोंकी उपशम करनेवाले मानवके उतना उत्कृष्ट परिणाम नहीं होता।

इसकी वास्तविकता कारण यह है कि ये मानसिक भावना शरीरकी रोग-प्रतिरोधक-शक्तिको नष्ट कर सकते हैं। हमारे शरीरमें दो पाचक रस रहते हैं—एक अनाभ—एम्युलोप्सीलिन व पैप्सीन।

इन ईर्ष्या भय शोक क्रोध चिन्ता घृणा आदि मानसिक आवेगोंसे प्रभावित अवस्थामें पाचक रस अपना प्रभाव खोते हैं। इसलिए शरीर और मन शक्तिहीन हो जाते हैं।

चिन्ता शोक भय क्रोध शोक आदिसे ज्वर और अजीर्ण रोग होता है—

> कामाद्विषि शोकभयात्क्रोधात्कामशोकभयक्रोधजामतज्ज्वरः ॥
> ज्वरोऽग्नि स्तु । (चरक चिकित्सा स्थान
> —३ २१।१२४)

तुम व्यसन अग्निके घोर हो

"मात्रयाप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति ।
चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः ॥"[1]

(चरकशुद्धिस्थान—२)

चिन्ता आदिसे आमाशयिक स्राव कम होता है और क्षुधा नष्ट हो जाती है। हमारा जीवन प्रवृत्ति-बहुल है। जहाँ प्रवृत्ति होती है वहाँ वेग होता है। वह दो प्रकारका होता है—शारीरिक और मानसिक। शारीरिक वेग तेरह प्रकारके हैं—वात (ऊर्ध्ववात, अधोवात), मल, मूत्र, छींक, प्यास, भूख, निद्रा, कास, श्रमजनितश्वास, जँभाई, अश्रु, वमन और शुक्र। इनका वेग धारण करनेसे रोग उत्पन्न होते हैं, इसलिए उसका निषेध है।[1]

शारीरिक वेगोंको धारण करनेसे रोग उत्पन्न होते हैं और मानसिक वेगोंको धारण न करनेसे रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिए उनके निरोधका विधान है, कहा है—इस लोकमें और परलोकमें हित चाहनेवाला व्यक्ति जितेन्द्रिय होकर लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य, राग आदि वेगोंका निरोध करे।[2]

एलोपैथीमें रोगके प्रधान हेतु कीटाणु हैं। होम्योपैथीका सिद्धान्त इससे भिन्न है। इसके अनुसार उसका मूल मनसे भी आगे है। आयुर्वेदमें रोग चार प्रकारके माने गये हैं—१ आगन्तुक, २ शारीरिक, ३ मानसिक, ४ स्वाभाविक।[3]

---

१ वेगान्न धारयेद् वात-विण्मूत्रक्षवतृट्क्षुधाम् ।
निद्राकासश्रम-श्वासजृम्भाश्रुच्छर्दिरेतसाम् ॥ अष्टाङ्गहृदय सूत्र स्थान ४।१
२ धारयेत्तु सदा वेगान् हितैषी प्रेत्य चेह च ।
लोभेर्ष्याद्वेषमात्सर्यरागादीनां जितेन्द्रियः ॥ अष्टाङ्गहृदय सूत्र स्थान ४।२४
३. सुश्रुत सूत्रस्थान १।३२
ते चतुर्विधाः—आगन्तवः शारीराः मानसाः स्वाभाविकाश्चेति ।

आगन्तुक रोगोंका हेतु बाह्य उपकरण—शस्त्र आदि है। शारीरिक रोग हीन मिथ्या और अतिमात्रामें अनुचित आहार-पानके कारण कुपित (वा विषम) हुए वात पित्त कफ रक्त या इनके मिश्रणसे उत्पन्न होते हैं। मानसिक रोग क्रोध शोक भय हर्ष विषाद ईर्ष्या असूया दैन्य, मात्सर्य काम लोभ आदिसे तथा इच्छा और द्वेषके अनेक भेदोंसे उत्पन्न होते हैं। स्वाभाविक रोग भूख प्यास बुढ़ापा मृत्यु निद्रा आदि हैं। रोगका एक हेतु कर्म भी माना जाता है। कर्मज रोग किसी बाह्य हेतुके बिना भी प्रकट हो जाते हैं। कर्मज रोग हमारे लिए परोक्ष हैं। स्वाभाविक रोग जीवनका सहज क्रम है। आगन्तुक रोगकी जो व्याख्या की जाती है वह आकस्मिक घटना है। [illegible] है—शारीरिक और मानसिक। बाहरसे शरीरमें आकर रोग उत्पन्न करनेवाले जन्तुओं या कीटाणुओंसे जो रोग उत्पन्न होते हैं वे भी आगन्तुक रोग माने जाने चाहिए।

शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक—इन तीनों प्रकारके रोगोंमें मुख्य रोग मानसिक है। वास्तवमें आजकी भाषामें कहा जा सकता है कि रोगोंके मूल हेतु मानसिक रोग क्रोध आदि हैं।

मनकी स्थिर स्थितिमें व्याकुलताजनक बाहरी प्रभाव बहुत कम होता है। रोग प्रतिरोधक शक्ति तीव्र होती है। मन वशवर्ती होता है तो वात पित्त और कफकी अनियमित विषमता नहीं होती। मन पवित्र होता है तो क्रोध आदि मानसिक रोग उत्पन्न नहीं होते। मनकी अस्थिरता, उच्छृंखलता और अपवित्रतासे तीनों प्रकारके रोग होते हैं। इसलिए आरोग्यकी पृष्ठभूमिमें स्वास्थ्य बहुत अपेक्षित है। स्वास्थ्य यानी स्वस्थिति-आत्मस्थता। अध्यात्मसे आत्मस्थता उत्पन्न होती है किन्तु साथ-साथ उससे शरीरारोग्य भी होता है।



उपासनाके बीज

आराध्यकी समापत्तिके लिए आराधना, साध्यकी सिद्धिके लिए साधनाका जो महत्त्व है, वही महत्त्व उपास्यकी उपलब्धिके लिए उपासनाका है। वस्तुतः इन तीनोंमें आर्थिक भेद नहीं है।

आराधनाका केन्द्र-बिन्दु आत्मा है। आत्मा चैतन्यकी विविध परिणतियोंका   है। चैतन्यकी मुख्य परिणतियाँ तीन हैं—बहिश्चैतन्य, अन्तश्चैतन्य और परम चैतन्य। जिसे देह और चैतन्यके दो स्वतन्त्र तत्त्व होनेमें भ्रम होता है, वह बहिरात्मा है। जो चैतन्यको देहसे भिन्न मानता है, वह अन्तरात्मा है। जो विशुद्ध बन गया है, वह परमात्मा है। यह हेय, उपाय और उपेयकी मीमांसा है।

अन्तरात्मा उपाय है। उसके दो कार्य हैं—बहिर्‌का त्याग और परमकी प्राप्ति करना। समाधि-शतकमें कहा है—

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत्॥

'अध्यात्मोपनिषद्' के अनुसार साधनाकालमें जो साधन होते हैं, वे ही सिद्धिकालमें स्वभाव बन जाते हैं।

ज्ञान, दर्शन और संवर—ये आत्माके स्वभाव हैं। ज्ञान और दर्शन आत्माका   है। इनके द्वारा ज्ञेय प्रकाशित होते हैं। संवर आत्माकी स्वस्थता है। इसके द्वारा वह विजातीय तत्त्वसे अपने स्वरूपकी रक्षा करता है। प्राकृतिक चिकित्साका सिद्धान्त है—शरीरकी सारी विकृतियोंका मूल विजातीय तत्त्वका संग्रह है। जैन-दर्शनका अभिमत है—आत्माकी

सारी विकृतियोंका मूल कारण जो आत्माका विजातीय तत्त्व है का समूह है।

होम्योपैथीके प्रवर्तक डॉ० हैनिमनका चिकित्सा सूत्र है—सदृश क्योरम सान्य दवाओंसे शमनकी चिकित्सा होती है। रोगकी सही चिकित्सा वही है जो उस रोगको उत्पन्न कर सके।

अध्यात्मका आत्म चिकित्साका सूत्र है—समानसे समानकी उपलब्धि हो सकती है। आत्माकी आराधनासे आत्माकी परमात्माकी आराधनासे परमात्माकी और ज्ञानकी आराधनासे ज्ञानकी उपलब्धि होती है। आत्माकी समानधर्मा उपासनाके बिना उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती।

आचारांगमें भगवान् महावीरने कहा है शब्द रूप गन्ध रस और स्पर्श—ये विजातीय तत्त्व हैं। जो इन्हें जानता है और इनका परित्याग करता है वही आत्मवित् है।

जैन-सूत्र तीन प्रकारकी आराधनाका उल्लेख करते हैं—ज्ञानाराधना दर्शनाराधना और चारित्राराधना। व्याख्या यह बतलाती है कि व्यवहार दृष्टिसे जीव आदि तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान सम्यक् ज्ञान उनका श्रद्धान सम्यग्दर्शन और उनका आचरण सम्यक् चारित्र है।

धर्मादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं ज्ञानमधिगमस्तेषाम्।
चरणं च तपसि चेष्टा व्यवहारात् मुक्तिहेतुरयम्॥ (तत्त्वानु० ३)

किन्तु निश्चय दृष्टिसे आत्माका निश्चय ही सम्यग्दर्शन आत्माका बोध ही सम्यग् ज्ञान और आत्मामें स्थिति ही सम्यक् चारित्र है।

एतत्र निश्चय दृष्टि बोधस्तत्रैव तन्मतः।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः॥

भगवान् महावीरने कहा—आत्मलीन ज्ञान दर्शन और चारित्रको पाकर आत्मा पर-द्रव्य (विजातीय तत्त्व) का त्याग करता है। इस साधनाका अर्थ है—उपास्य और उपासकके व्यवधानकी समाप्ति। उपास्य और उपासक अभिन्न हो जाएँ वही है उपासनाका शीर्ष।

भूतकी उपासना

जो एकको जान लेता है वह सबको जान लेता है और जो सबको जानता है वही एकको जानता है — यह आगम-वाणी है।

वह क्या है जिसे जान लेनेपर सब कुछ जान लिया जाता है? आत्माको जान लेनेपर सब कुछ जान लिया जाता है—यह उपनिषद् वाणी है।

जाननेका अर्थ क्या है? आत्माको जान और अनात्म सब जान लिया गया जानना नहीं है? कहाँ स्वभावकी पकड़ और कहाँ जगकी समझ? जगकी वास्तविकता क्या है और क्या है उसके कोरे आवरण। आत्मज्ञानकी मूल भावना पूरी कैसे नहीं होगी? हम ध्यानकी उपासना करें इसका अर्थ है उसकी भावनासे हम तक पहुँच जायें। आत्माका चिन्तन क्यों हो यह? यह क्या चिन्तन? चिन्तन वह है, जिसके द्वारा हम आत्मा तक पहुँच जायें। अब तक पहुँचनेकी प्रक्रिया बहुत पुरानी है। भक्तोंको मद कर जब तक पहुँचनेका मार्ग लिया तब उपासनाका जन्म हुआ। जिसकी उपासना की जिसके पास बैठे उसके पास पहुँच गये। महानकी उपासना की तो महान बन गये। धनकी उपासना की तो धनी बन गये। शक्तिकी उपासना की तो शक्तिमान् बन गये। वीतरागकी उपासना की तो वीतराग बन गये। विषयोंकी उपासना की वही बन गये। आत्माकी उपासना की तो आत्मा बन गये और जड़की उपासना की तो जड़ बन गये। अच्छाईकी उपासना की तो अच्छे बन गये और बुराईकी उपासना की तो बुरे बन गये।

मनकी शक्ति अगाध है। वह जिसके पास बैठता है, उसीके पास आत्माको ले जाता है। मनके बैठनेको ही हमारे आचार्योंने योग कहा है। चित्तकी समाधि या चित्तकी एकाग्रता या चित्तकी वृत्तियोंका निरोध जो है, वही योग है और वही है उपासना। शब्दोंमें थोड़ा अन्तर है। एक जुड़नेका अर्थ देता है और दूसरा समीप बैठनेका। मन आत्मासे जुड़ जाये या उसके समीप बैठ जाये—इसमें क्या अन्तर है। कुछ भी नहीं। अन्तर तो इतना ही है कि समीप बैठे बिना कोई जुड़ नहीं सकता। जुड़ता है, वह तो समीप रहता ही है।

आत्म-चिन्तनका मतलब है कि वह आत्माके बारेमें चिन्तन करते-करते आत्मा तक पहुँच जाये। हमारा चिन्तन तबतक चले, जबतक हम आत्मा तक न पहुँच जायें। व्यावहारिक पक्ष यह है कि हमारा चिन्तन तबतक चले, जबतक हम अपने-आपको दुःखी बनानेवाली अपनी ही चेष्टाओंको न पकड़ पायें। सहज ही प्रश्न होगा, क्या चिन्तनसे बुराई मिट जायेगी? उत्तर मिला—मिट जायेगी। इन दोनोंके बीचमें जो है, वह

ता है। मनुष्य जो बुराई करता है, वह मूल बुराई नहीं है। वह बुराईकी अभिव्यक्ति मात्र है। बुराईका मूल है कि मन बुराईके के समीप बैठा है। बुराई नही ˆ। बुराईका संस्कार रुकता है। बुराई नहीं मिटती, बुराईका संस्कार मिटता है। बुराईका संस्कार सूक्ष्म है। सूक्ष्मको मिटानेके लिए सूक्ष्म ही समर्थ हो है। चिन्तन मनकी क्रिया है। वह सूक्ष्म है। इसीलिए बुराईको मिटानेमें ि उसका महत्त्व है, उतना बाहरी कर्मोंका नहीं है। जैन-साहित्य कहता है—दो क्षणके ध्यानमें जो शुद्धि होती है, वह कई स `से नहीं होती। वेदान्तने कर्म-काण्डोंकी उपेक्षा की है और ज्ञानको ही मोक्षका परम साधन माना है। उसका भी एक दृष्टिकोण है। जहाँ मन जाता है, वहाँ वाणी जाती है और शरीर भी जाता है। जहाँ मन रुकता है, वहाँ वाणी रुकती है। हाथ-पैर रुक जाते हैं। मनकी तीव्र अनुभूतिके साथ ही, या चिन्तनके

भूतकी उपासना

जो इसको जान लेता है वह उसका ज्ञान लेता है और जो उसको जानता है वही इसको जानता है — यह आगम-वाणी है।

वह क्या है जिसे जान लेनेपर सब कुछ जान लिया जाता है? आत्माको जान लेनेपर सब कुछ जान लिया जाता है—यह उपनिषद् वाणी है।

आत्माका अर्थ क्या है? शब्दोंको पढ़ और उनका अर्थ जान लिया क्या जानना नहीं है? कहीं शब्दोंकी पकड़ और कहीं अर्थकी समझ? अर्थकी वास्तविकता रहता है और शब्द है उसके संकेत वाहक। वास्तविकको पूरा जानना पूरा कैसे नहीं होगी? हम शब्दकी उपासना करें उसका अर्थ है उसके माध्यमसे अर्थ तक पहुँच जायें। आत्माका चिन्तन उपवास ही थी वह कैसा चिन्तन? चिन्तन वह है जिसके द्वारा हम आत्मा तक पहुँच जायें। आज तक पहुँचनेकी प्रक्रिया बहुत पुरानी है। शब्दोंको भेद कर अर्थ तक पहुँचनेका काम किया उस उपासनाका जन्म हुआ। जिसकी उपासना की जिसके पास बैठे उसके पास पहुँच गये। महावीरकी उपासना की तो महावीर बन गए। ज्ञानीकी उपासना की तो ज्ञानी बन गये। अरिहन्तकी उपासना की तो भगवान् बन गए। वीतरागकी उपासना की तो वीतराग बन गये। जिसकी उपासना की वही बन गए। आत्माकी उपासना की तो आत्मा बन गये और जड़की उपासना की तो जड़ बन गये। अच्छाईकी उपासना की तो अच्छे बन गये और बुराईकी उपासना की तो बुरे बन गये।

मनकी शक्ति अभाव है। वह जिसके पास बैठता है, उसीके पास आत्माको ले जाता है। मनके बैठनेको ही हमारे आचार्योंने योग कहा है। चित्तकी समाधि या चित्तकी एकाग्रता या चित्तकी वृत्तियोंका निरोध जो है, वही योग है और वही है उपासना। शब्दोंमें थोड़ा अन्तर है। एक जुड़नेका अर्थ देता है और दूसरा समीप बैठनेका। मन आत्मासे जुड़ जाये या उसके ` बैठ जाये—इसमें क्या अन्तर है। कुछ भी नहीं। अन्तर तो इतना ही है कि समीप बैठे बिना कोई जुड़ नहीं सकता। जुड़ता है, वह तो समीप रहता ही है।

आत्म-चिन्तनका मतलब है कि वह आत्माके बारेमें चिन्तन करते-करते आत्मा तक पहुँच जाये। हमारा चिन्तन तबतक चले, जबतक हम आत्मा तक न पहुँच जायें। व्यावहारिक पक्ष यह है कि हमारा चिन्तन तबतक चले, हम अपने-आपको दु:खी बनानेवाली अपनी ही चेष्टाओंको न पकड़ पायें। सहज ही प्रश्न होगा, क्या चिन्तनसे बुराई मिट जायेगी? उत्तर मिला—मिट जायेगी। इन दोनोंके बीचमें जो है, वह समझता है। मनुष्य जो बुराई करता है, वह मूल बुराई नहीं है। वह बुराईकी अभिव्यक्ति मात्र है। बुराईका मूल है कि मन बुराईके संस्कारके समीप बैठा है। बुराई नहीं ` । बुराईका संस्कार रुकता है। बुराई नहीं मिटती, बुराईका संस्कार मिटता है। बुराईका संस्कार सूक्ष्म है। सूक्ष्मको मिटानेके लिए सूक्ष्म ही समर्थ हो है। चिन्तन मनकी क्रिया है। वह सूक्ष्म है। इसीलिए बुराईको मिटानेमें ि उसका महत्त्व है, उतना बाहरी ` नहीं है। जैन-साहित्य कहता है—दो क्षणके ध्यानमें जो शुद्धि होती है, वह कई उपवासोंसे नहीं होती। वेदान्तने कर्म-काण्डोंकी ` की है और ज्ञानको ही मोक्षका परम साधन माना है। उसका भी एक दृष्टिकोण है। जहाँ मन जाता है, वहाँ वाणी जाती है और शरीर भी जाता है। जहाँ मन है, वहाँ वाणी रुकती है। हाथ पैर रुक जाते हैं। मनकी तीव्र अनुभूतिके साथ ही, या चिन्तनके

साथ ही हमारे स्थूल और शरीर चलते हैं। आत्माको जो पाना चाहे वह उसका चिन्तन करे उसकी तीव्रतम अनुभूति उसका बोध है। जो जिसके पास नहीं जाता वह उसे कब पा सकता है?

जो अपनी दुर्बलताओंको मिटाना चाहे वह उनके विपक्षका चिंतन करे उसकी तीव्रतम अनुभूति उसका बोध है। जो जिसके पास नहीं जाता वह उसको विस्मृत कैसे कर सकता है। जो वस्तुस्वभावको प्राप्त करना चाहे वह उसके विकल्पका चिन्तन करे उसकी तीव्रतम अनुभूति उसका बोध है। जो जिसके पास नहीं जाता वह उसका विनाश भी कैसे कर सकता है?

सतत चिन्तनको महत्त्व पूर्वकी भाषामें स्मृति-समन्वाहार कहा जा सकता है। जिस भावना को दृष्टिमें रख लिया गया रहे उसकी अनुभूति होती रहे—यही है स्मृति समन्वाहार। कोई कुछ करना होता है। पर कालेशोण ध्यान नहीं होता उसे वर्तमान सहयोगिता मान लिया जाता है। उसमें वास्तविकता तभी आती है जब मन उससे जुड़ जाता है। मन होता रहे और मन दूसरी जगह भटकता रहे तो वहीं उसकी सामर्थ्य क्षीण हो जाती है।

व्यक्ति चाहता है मैं बुराइयां छोड़ूं और अच्छाइयोंको स्वीकार करूं किन्तु कामनाओंमें सहज ही ऐसा नहीं होता। बुराई चिर-परिचित होती है अच्छाइयोंसे नया परिचय किया जाता है। व्यक्ति बुराईको स्वीकार करता है। अच्छाई आनेसे या स्वीकार करने-मात्रसे वह बन नहीं पाती। उसकी तीव्रानुभूति सतत उसके साथ जुड़ी रहे, तभी वे बनती हैं। इसीलिए ध्यानके साथ-साथ भावनाओंकी विधि स्वीकार की जाती है। भावना भावनाका पहला सूत्र है—प्रतिदिन प्रातः चिन्तन करना। व्यक्ति अपनी आदतको क्षणमें छोड़ नहीं सकता। पर अभ्यास-मात्रकी तभी बन सकता है जब सतत चिन्तनकी प्रवृत्ति हो। आदतोंके परिवर्तन करनेके लिए यह नितान्त अपेक्षित है। सतत स्मृति होनेपर वह कैसे मिट सकती है?

अभयका मन्त्र

कोई मनुष्य नहीं चाहता—मैं भयभीत बनूं। जो नहीं चाहता मैं भयभीत बनूं, वह ऐसे चाहेगा—मैं दूसरोंको भयभीत करूं। जो दूसरों को भयभीत करता, वह स्वयं-भयरहित अभय कैसे होगा? वह दूसरोंको इसलिए डराता है कि स्वयं डर रहा है। जो स्वयं अभय होता है, वह दूसरोंको डरा नहीं सकता। जो दूसरोंको नहीं डराता वही अभय होता है। धर्म-शास्त्रके अनुसार अहिंसाका आदि-बिन्दु अभय है। मानस-शास्त्रके अनुसार मनोचिकित्साका आदि-बिन्दु अभय है। भगवान् महावीरके प्रवचन का मूल मन्त्र है—डरो मत! जो डरता है, उसीके आस-पास डर अपना डेरा डाले रहता है। जो डरता है वह अकेलेमें अकेला अनुभव करता है, भयग्रस्त रहता है। भूत उसीके पीछे पड़ते हैं, जो डरता है। डरा हुआ मनुष्य दूसरोंको भी डरा देता है। डरा हुआ मनुष्य तप और संयमको भी तिलांजलि दे देता है। डरा हुआ मनुष्य अपने दायित्वको नहीं निभाता। उठाये हुए भारको बीचमें ही छोड़ देता है। डरा हुआ मनुष्य सत्यका अनुगमन करनेमें समर्थ नहीं होता। इसलिए डरो मत।

न भयानक परिस्थितिसे डरो, न भयानक वातावरणसे डरो। न दुःखसे डरो। किसीसे भी मत डरो। जिसका अन्तःकरण अभयसे भावित होता है, वही व्यक्ति शक्तिकी उपलब्धि पा सकता है।

भयसे स्नायु तन्त्र शिथिल हो जाता है। डरनेवाला मनुष्य अपनी शक्तिको विकसित नहीं कर सकता। मनुष्य जबतक भय, प्रलोभन और लोभके लिए जीता है, तबतक वह डरता है। परिवारसे डरता है, राज्य

सत्तासे डरता है, चोर-लुटेरोंसे डरता है, रोग, बुढ़ापे और मौतसे डरता है। अर्थ, पदार्थ और भोगके लिए जो नहीं जीता किन्तु अपने लक्ष्यकी पूर्तिके लिए जीता है, विकासके लिए जीता है, वह और तो क्या मौतसे भी नहीं डरता। उसके लिए जीना अल्प-मूल्य होता है, लक्ष्यपूर्ति बहुमूल्य। बुद्धिमान् मनुष्य वह है जो अल्पके लिए बहुतको न खोये।

आर्यो! आओ! भगवान्ने गौतम आदि श्रमणोंको आमन्त्रित किया। भगवान्ने पूछा—आयुष्मान् श्रमणो! जीव किससे डरते हैं?

गौतम आदि श्रमण निकट आये, वन्दना की, नमस्कार किया, विनम्र भावसे बोले—भगवन्! हम नहीं जानते, इस प्रश्नका क्या तात्पर्य है? देवानुप्रियको कष्ट न हो तो भगवन् कहें। हम भगवान्के पाससे यह जानने-को उत्सुक हैं।

भगवान्—आर्यो! जीव दुःखसे डरते हैं।

गौतम—भगवन्! दुःखका कर्ता कौन है और उसका कारण क्या है?

भगवान्—गौतम! दुःखका कर्ता जीव और उसका कारण प्रमाद है।

गौतम—भगवन्! दुःखका अन्तकर्ता कौन है और उसका कारण क्या है?

भगवान्—गौतम! दुःखका अन्तकर्ता जीव और उसका कारण अप्रमाद है।

तुम अपने भाग्यके विधाता हो। सागरकी बूँद और सागर स्वयं तुम हो। तुम जो होना चाहते हो, उसका निर्णय तुम्हींको करना है। तुम इन पंक्तियोंको गुनगुनाते रहो—

मैंने सुना है, अनुभव किया है—
स्वतन्त्रता की कुंजी स्वयं में है।
मैंने सुना है, अनुभव किया है—

फूलों की सुगन्ध और काँटों की चुभन स्वयं मैं हूँ।
मत सुना है अनुभव किया है—
प्रलय और सृजन स्वयं मैं हूँ।
मत सुना है अनुभव किया है—
सागर की बूँद और सागर स्वयं मैं हूँ।



ब्रह्मचर्य

प्रवृत्ति दो प्रकारकी होती है—आकर्षणकी और विकर्षणकी। आवेगका विकर्षण होनेसे आन्तरिक आकर्षण समाप्त हो जाता है। कभी-कभी साधना-क्रमके अभावमें भी मनुष्य अपनी प्रबल विवेक शक्तिके द्वारा आकर्षणपर नियन्त्रण कर लेता है पर उसका विकर्षण नहीं कर पाता। बाह्यके प्रति आकर्षणका विकर्षण करनेके लिए ध्यानके सिवा दूसरा मार्ग नहीं है। ध्यानसे मन केन्द्रित होता है और उससे स्वयं विषयोंके प्रति अरुचि हो जाती है। ऋषिभाषितमें कहा है—ध्यानके बिना धर्म शिर-रहित शरीरके समान है। जिसमें सहज वैराग्य हो जाये, यह बहुत कठिन है। दीर्घकालीन अभ्यासके बिना सामान्य व्यक्ति वैराग्यको प्राप्त नहीं कर पाता।

ध्यानके विषयमें जैन सूत्रोंमें अनेक स्थलोंपर बिखरे तत्त्व मिलते हैं। विशुद्धिमग्ग और पातञ्जलयोगसूत्रकी तरह कोई एक आगमकालीन ग्रन्थ इस समय प्राप्त नहीं है फिर भी कई सूत्रोंमें तथा उत्तरवर्ती ग्रन्थोंमें ध्यानकी पद्धति मिलती है।

ध्यानकी साधना-पद्धति यह है—भोजनका विवेक, आसनकी साधना, प्रतिसंलीनता या प्रत्याहार, धारणा और फिर ध्यान। आचार्य कुन्दकुन्दने लिखा है—जो व्यक्ति आहार, आसन और निद्रा-विजयको नहीं जानता, वह जैन-शासनको नहीं जानता। साधनाका आरम्भ करनेवाला शैक्ष पहले दिन ही दृढ़ संयमी हो जाये यह कैसे सम्भव है? संयमकी दृढ़ता अभ्यास करते-करते प्राप्त होती है। अभ्यासके लिए अनुभवी गुरुका

मान-बड़ाई आवश्यक है। जो मान ही न चाहे तो कैसे वह सकता है? मान पूजन क्या कोई अनोखा होता है? नहीं होता। तो फिर साधकको मान-बड़ाई लेकर क्या सन्तोष होना चाहिए? उसे यह मानकर कभी नहीं चलना चाहिए कि दूसरोंको मेरी दुर्बलताका पता न चले। इस मान्यताके कारण ही अपनी दुर्बलताको छिपानेका प्रयत्न करता है और जहाँ छिपानेका प्रयत्न होता है वहाँ साधना कमजोर पड़ जाती है।

साधकको इस मान्यताके आधारपर चलना चाहिए कि विषयोंके प्रति लगाव मिटा नहीं है? उसे है। दुर्बलता मिटी नहीं है? आज है। जो व्यक्ति साधनाके प्रारम्भ ही अपनेको बहुत प्रबल दिखानेका यत्न करता है वह बहुत दुर्बल है। उसकी दृष्टि साधनाके प्रति स्पष्ट नहीं है।

साधकके सामने शारीरिक या मानसिक जो भी कमजोरी आये उसे वह अपने मन-मस्तिष्कसे स्वीकार करे। न स्वीकारनेसे दूर करनेका भी भाव मनमें उभर पाये। साधनाके प्रारम्भ काल जैसा बहुत बड़ी बात नहीं है बहुत बड़ी बात है चलना।

जो व्यक्ति जीवनके प्रति बहुत जागरूक नहीं है, साधनाके सम्बन्धमें गम्भीर नहीं है, अव्यवहार, धारणा और व्यवहार सम्बन्धी नहीं है, उसके लिए साधनाकी सम्यक् कल्पनाकोंकी बात है।



विहार-चर्या

१ सम्बन्ध आहारके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंसे भी है। उनमें एक विहार-चर्या है। विहार-चर्या अर्थात् दैनिक चर्या। उसके अनेक अंग हैं। किन्तु आज मैं उसके दो अंगों — बैठने और श्वास लेनेपर कुछ बातें ˚ ।

बैठो तो विधिवत् बैठो। न झुककर बैठो और न अकड़कर बैठो। रीढ़को सीधा रखो पर तनाव मत डालो। लम्बे समय तक एक आसनमें मत बैठो। उससे रोग पैदा होते हैं। योगकी विशेष साधनाके समय तीन घण्टे तक एक में बैठा जा ा है। मयूरासन एक-दो मिनिट, म पाँच मिनिट और सर्वांगासन तीस मिनिट तक किया जा ा है। शरीरासनोंके लिए अलग-अलग विधान है। ध्यानासनोंमें पद्मासन आदि तीन घण्टे तक साधे जा सकते हैं। आसन जब सिद्ध हो जाते हैं तब सर्दी-गरमी आदि द्वन्द्व नहीं ˋ। महर्षि पतंजलिने लिखा है—

ततो द्वन्द्वानभिघातः (पातंजल योग दर्शन २।४८)

शरीरमें दो प्रकारकी ग्रन्थियाँ होती हैं—अन्त स्रावी, बहि स्रावी। अन्त स्रावी ग्रन्थियाँ नलिकाविहीन होती हैं। वे बहुत महत्त्वपूर्ण होती हैं। आसन और व्यायामसे उनकी शक्ति बढ़ती है। भगवान् महावीरने अनेक कष्ट सहे और कष्ट सहनकी वेलामें वे प्रसन्न भी रहे, विशेष साधनाके यह कैसे हो सकता है? वीरासन करनेवाला सहिष्णु होता है। आसनोंसे न शारीरिक किन्तु मानसिक विकास भी होता है। ेका स्वास्थ्यके साथ गहरा सम्बन्ध है।

इसके स्वास्थ्यमें श्वासका बड़ा हाथ है, इसलिये इस बातपर ध्यान केन्द्रित करो कि श्वास कैसे लिया जाये? श्वास लेनेका मुख्य अंग नाक है। यह इसीसे लो, मुँहसे मत लो। मुँहसे श्वास लेनेपर फेफड़ा कमजोर बनता है क्योंकि भीतर जानेवाली ठण्डी हवा सीधी फेफड़ोंपर असर करती है। नाकसे जानेवाली हवा गरम होती है। उसमें जो कचरा होता है उसे नाकके केश रोक लेते हैं। केवल शुद्ध हवा अन्दर जाती है। किसी विशेष परिस्थितिमें श्वास मुँहसे भी लिया जा सकता है। जब जोर लगानेकी पड़ती है। उसे शान्त करता है। उसका उपाय है धीरजी मन। धीरजी मन रखकर गहरा श्वास लेके लिया जा सकता है।

हर समय श्वास लम्बे लेनेका अभ्यास करो। एकसरीखी धारणा श्वास धीरे-धीरे लम्बा होता जाता है। प्रयत्न करनेपर भी दीर्घ श्वास लिया जा सकता है। दीर्घ श्वाससे स्वास्थ्य अच्छा प्राप्त होता है।

स्वस्थ कौन? स्वस्थ है, रोग नहीं, उसका निर्णय करना बहुत सरल नहीं है। कुछ लोग दुबलेको अस्वस्थ और मोटेको स्वस्थ मान लेते हैं। डॉ० सुश्रुतने कहा है—स्वस्थ वह है जिसका चित्त प्रसन्न, मन शान्त व इन्द्रियाँ संयमाधीन हों।

स्वास्थ्य रक्षणमें मानसिक प्रसन्नताका बहुत बड़ा हाथ है। दीन भावना और यह भावना मनके संतुलनको बिगाड़ देती है। किसीके दुःख पड़नेपर प्रियजनके ऊपर उनके प्रतिकूल स्थिति होनेपर मन चिन्ताओंसे भर जाता है। हाय मुझ जैसे कहाँ? उसके बीच भय लगना है?—आदि आदि प्रश्नोंमें मन उलझ जाता है। न चिन्ता, न चिन्तन उसीके आगमन करते हैं जिसका मन कमजोर होता है। जिसका मन शक्तिशाली होता है वह सब कुछ सहता हुआ भी बाह्य स्थितिसे अधिक प्रभावित नहीं होता। मानसिक तनावोंका स्वास्थ्यपर बहुत असर पड़ता है। शरीरमें अवसर रोगके कीटाणु होते हैं पर भीतरी शक्ति प्रबल होनेसे उनका

ज़ोर नहीं चलता। मन कमज़ोर हो जाये तब वे कीटाणु भी आक्रमण कर देते हैं।

डॉ॰ हैनिमैनने कहा—रोगका मूल आत्मामें है। इसमें सच्चाई भी है। कुछ आगन्तुक रोगोंकी बात छोड़ दें तो निष्कर्ष प्राप्त होगा कि मनुष्यके शरीरमें दस प्रतिशत रोग शारीरिक होते हैं और नब्बे प्रतिशत मानसिक। मानसिक आवेगोंसे अनेक बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं। घृणासे मन विषादसे भर जाता है। एक व्यक्तिका सामान्य स्थितिमें फोटो लिये गये उस समय था, रक्त आदिमें कोई दोष नहीं मिला। उसी व्यक्तिके घृणाके समय फोटो लिये गये तो रक्तमें दूषितता मिली। आवेगोंसे मन विषण्ण होता है और मैत्री आदि भावनाओंसे वह प्रसन्न होता है। प्रसन्नताका स्थान हर्षसे बहुत ऊंचा है। हर्ष परिस्थितिजनित मानसिक अवस्था है। वह अनुकूल संयोगमें उत्पन्न होता है और प्रतिकूल संयोगमें विनष्ट हो जाता है। प्रसन्नता अन्तःकरणकी सहज स्वच्छता है। वह बाहरी संयोग-वियोगसे अप्रभावित मनकी स्थिति है। ध्यान, कायोत्सर्ग, अनित्य आदि भावनाओंके द्वारा चित्तमें प्रसन्नता बढ़ती है। चित्त जितना प्रसन्न होता है, वह उतना ही स्वस्थ होता है। जितना विषण्ण होता है उतना ही अस्वस्थ। प्रसन्नताके लिए ध्यान और कायोत्सर्ग अमोघ साधन है।

मानसिक प्रफुल्लतासे शरीरका संरक्षण होता है। आजकल डॉक्टर लोग स्वतः सूचनाका अधिक उपयोग करते हैं। मनमें संकल्प करें कि मैं स्वस्थ हूँ। मेरी बीमारी मिट गयी है। विश्वासके साथ संकल्प करनेसे निश्चित । मिलती है। धारणा, स्वतः सूचना और आसनोंका प्रयोग करके देखा जाये फिर यह प्रश्न नहीं होगा कि इनका स्वास्थ्यसे क्या और कितना सम्बन्ध है?



स्वास्थ्य और आहार विवेक

स्वास्थ्यके लिये भोजन है, स्वाद भोजन भी एक है। भोजन समयकी जानकारी आवश्यक होती है। भोजन कब करना चाहिये?—इसका सीधा-सा उत्तर यही है कि जब भूख लग जाय? कितना और क्या खाना चाहिये यह भी जानना आवश्यक है।

आयुर्वेदमें एक शब्द आता है मितभुक्—मिताहार। आयुको मित आहार करना चाहिये। आयुर्वेदमें भी आहारके तीन प्रकार बताये गये हैं। हीनाहार, मिताहार और अतिमात्राहार। मिताहार स्वास्थ्यके अनुकूल होता है। हीनाहार और अतिमात्राहार स्वास्थ्यके प्रतिकूल होते हैं। यद्यपि कइयोंका विचार है कि हीनाहारसे जठराग्नि ठीक होती है पर आयुर्वेदकी दृष्टिसे यह सही नहीं है। जैसा कि कहा गया है—

तत्र हीनमात्रमाहारराशिं बलवर्णोपचयक्षयकरमतृप्तिकरमुदावर्तकरमनायुष्य मनौजस्यं शरीरमनोबुद्धीन्द्रियोपघातकरं सारविधमनमलक्ष्म्यावहमशीतेश्च वातविकाराणा- माचक्षते।

हीन आहारसे बल, ओजस् और पुष्टता नष्ट होती है। आयुष्य और ओजकी हानि होती है। शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंका विनाश होता है तथा अस्सी प्रकारके वायुके रोग पैदा होते हैं।

आहारमग्निः पचति दोषानाहारवर्जितः।
धातून् क्षीणेषु दोषेषु जीवितं धातुसंक्षये॥३॥

अग्नि आहारको पचाती है। आहारके अभावमें यह दोषोंको पचाती है। दोष क्षीण होनेपर यह धातुओं और धातुओंके क्षीण होनेपर यह जीवन

को लील जाती है। इसलिए आयुर्वेदका मत है कि अग्निको उचित मात्रामें आहार मिलना चाहिए। अतिआहार सब दोषोंको कुपित कर देता है—
अतिमात्रं पुनः सर्वदोषप्रकोपनम्।

प्रश्न उठता है, परिमित आहार किसे माना जाये? सबकी भूख समान नहीं होती इसलिए सबके लिए एक ही सीमा नहीं हो सकती। इसका संक्षिप्त उत्तर यही होगा कि जिसको जितनी भूख लगे उसमें एक-दो कवल कम खाना ही परिमित आहार है। भारतीय स्वास्थ्य-विभागने सामान्यत भोजनकी तालिका इस प्रकार प्रस्तुत की है—अनाज १४ औंस, दलहन ३ औंस, साग-तरकारी ६ औंस, दूध १० औंस, चीनी या गुड़ १ औंस, तेल, घी आदि २ औंस।

शारीरिक श्रम करनेवाले इस अनुपातसे अधिक भी ले सकते हैं। क्योंकि स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भोजन करनेके दो कारण हैं—क्षतिकी पूर्ति और शक्तिकी प्राप्ति। ज्यादा खानेसे ज्यादा आती है, यह विश्वास मिथ्या है। होता यह है कि अधिक पचानेके लिए लवण आम्ल आदि अधिक खर्च होते हैं। हिताहारसे स्वास्थ्य बनता है और अहिताहार-से वह बिगड़ता है।

हिताहारोपयोग एव पुरुषवृद्धिकरो भवति।
अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्तमिति ॥१॥

जो आहार सम शरीर-धातुओंको प्रकृतिमें स्थापित करता है और विषम शरीर-धातुओंको सम करता है, वह हित आहार होता है, जो इससे विपरीत होता है वह अहित।

"यदाहारजातं समांश्चैव शरीरधातून् प्रकृतौ स्थापयति विषमांश्च समीकरोतीत्येतद्धितं विद्धि, विपरीतं त्वहितमिति।"

भोजन कैसा? : आयुर्वेदमें इसका उत्तर यह है कि मनुष्यका भोजन स्निग्ध, उष्ण और रसपरिपूर्ण हो। कोरे रूखे आहारसे वृत्तियोंमें भी रूखापन आ जाता है और सागमें चिकनाई—स्निग्धतासे अनुदीर्ण अग्नि

प्रदीप्त होती है, खाया हुआ भोजन शीघ्र पचता है, वायुका अनुलोमन होता है, इन्द्रियाँ दृढ़ होती हैं, बल बढ़ता है, वर्ण और प्रसन्नताकी अभिवृद्धि होती है। इसलिये भोजन स्निग्ध होना चाहिये।

स्निग्धमश्नीयात्, स्निग्धं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तं चानुदीर्णमग्निमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, दृढीकरोतीन्द्रियाणि, बलाभिवृद्धिमुपजनयति, वर्णप्रसादं चाभिनिर्वर्तयति। तस्मात् स्निग्धमश्नीयात्।

उष्णमश्नीयात्, उष्णं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तं चाग्निमौदर्यमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति। श्लेष्माणं च परिह्रासयति। तस्मादुष्णमश्नीयात्।

आहार कैसे करें? शास्त्रोंमें भोजन करनेकी कुछ विधियाँ निर्दिष्ट की हैं। वे बहुत उपयोगी हैं। उनमें पहली विधि यह है—
१ तन्मना भुञ्जीत – आहार करते समय मन आहारमें ही रहना चाहिये।
२ नातिद्रुतमश्नीयात् – बहुत जल्दी-जल्दी नहीं खाना चाहिये। ३
मत्—बहुत धीरे-धीरे नहीं खाना चाहिये। ४
अजल्पन् अहसन् तन्मना भुञ्जीत—भोजन करते समय न बातचीत करनी चाहिये और न हँसना चाहिये। मन केवल भोजनमें रहना चाहिये।
५. ईर्ष्याभयक्रोधपरिक्षतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन।

प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिणाममेति ॥१॥
मात्रयाप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति।
चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः ॥२॥

भोजन करते समय मन शान्त रहना चाहिये। क्योंकि ईर्ष्या, भय, क्रोध, लोभ, रोग, दीनता, द्वेष, चिन्ता, शोक, दुःखशय्या और रात्रि-जागरण—इन सब स्थितियोंसे प्रभावित व्यक्ति जो खाता है, उसका ठीक-ठीक परिपाक नहीं होता। वह यदि पथ्य आहार करता है और उचित मात्रामें करता है, फिर भी उसका खाया हुआ ठीक तरहसे नहीं पचता।

पानी : भोजनके साथ पानीका भी सम्बन्ध है। उससे भोजन पचता है और शरीरके दूषित तत्त्व बाहर निकलते हैं किन्तु उसका उपयोग भी विवेकसापेक्ष है। एक साथ बहुत पानी पीनेसे भोजनका परिपाक नहीं होता और पानी बिलकुल न पीनेसे भी उसका परिपाक नहीं होता, इसलिए थोड़ा-थोड़ा कर अनेक बार पानी पीना चाहिए।

अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नं, निरम्बुपानाच्च स पाकमेति।
तस्मान्नरो वह्निविवर्धनाय, मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि॥

पानी न अधिक गरम और न अधिक ठण्डा बल्कि शरीरके तापमानके समान पीना चाहिए।

उत्सर्ग विवेक : स्वास्थ्यकी सुरक्षाके लिए जितना महत्त्व भोजनका है, उससे कम उत्सर्गका नहीं है। शरीरमें जितने दोष संचित होते हैं उनका प्रधान कारण समयपर ठीक उत्सर्ग न होना ही है।

उत्सर्ग यदि ठीक समयपर हो तो शरीर अस्वस्थ बहुत कम बनता है। आसन, व्यायाम आदिका महत्त्व इसीलिए है कि वह आँतोंको बल देता है। जिससे वे समयपर अपना कार्य करती रहें। आँतें यदि ग्रहण और विसर्जनका कार्य उचित ढंगसे करती रहे तो अस्वास्थ्यकी सम्भावना बहुत क्षीण हो जाती है। जिसके आँतोंकी विसर्जन-शक्ति ठीक है, जो उचित मात्रामें जलका सेवन करता है और जो हितपरिमित भोजन करता है, उसके स्वास्थ्यकी सुरक्षा उसकी इन प्रवृत्तियोंमें ही निहित है।



चित्तशुद्धिके साधन

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये॥ (विवेकचूडामणि)

कर्म चित्तकी शुद्धिके लिए करना चाहिए, वस्तुकी उपलब्धिके लिए नहीं—यह शंकराचार्यका अभिमत है। उन्होंने चित्त-शुद्धिके परम्परागत चार साधन माने हैं—

> साधनान्यत्र चत्वारि कथितानि मनीषिभिः।
> येषु सत्स्वेव सन्निष्ठा यदभावे न सिध्यति॥ १८॥
> आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेकः परिगण्यते।
> इहामुत्रफलभोगविरागस्तदनन्तरम्॥ १९॥
> शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम्॥ २०॥

१ विवेक २ भोग विराग ३ शमादि षट्क सम्पत्ति ४ मुमुक्षुत्व।

जैन साधनामें इनके नाम भिन्न हैं पर चित्तकी शुद्धिमें दोनोंमें समानता है—

१ विवेक = सम्यक्त्व

२ भोग विराग = निर्वेद

३ शमादि षट्क सम्पत्ति—

(१) शम (२) दम (३) उपरति (४) तितिक्षा (५) श्रद्धा (६) समाधान = (१) शम (२) दम (३) उपरति (४) तितिक्षा (५) श्रद्धा, (६) समाधि।

४ मुमुक्षुत्व = संवेग

आचार्य शंकरने विवेककी परिभाषा इन शब्दोंमें की है—ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है। इस प्रकार जो विनिश्चय है, उसे नित्यानित्य वस्तुका विवेक कहा जाता है—

> ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्येत्येवरूपो विनिश्चय ॥२०॥
> सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेक: समुदाहृत: ॥२१॥

जैन-दर्शनके अनुसार जिनका अस्तित्व है वे सब सत्य हैं। चेतन भी सत्य है और अचेतन भी सत्य है। अस्तित्वकी दृष्टिसे दोनों सत्य हैं। चेतन और अचेतनमें एकताकी बुद्धि होती है, वह असत्य है। चेतनको अचेतनसे भिन्न मानना [illegible] त्व है। भोग वस्तुके प्रति जो घृणा होती है, उसे वैराग्य कहा जाता है—

> तद् वैराग्यं जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभि —॥२१॥
> देहादिब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि—॥२२॥

वस्तुके प्रति हमारी दोष-दृष्टि स्थिर हो तो मनमें घृणा होती है, अन्यथा नहीं।

कोई चीज सामने आती है। वह रग-रूपमें अच्छी है। शरीरके लिए वह हितकर नहीं है फिर भी उसे देख व्यक्तिका मन ललचा आता है। क्योंकि आँखोंके सामने उसका रग-रूप आता है, पर परिणाम नहीं [illegible]। इन्द्रियोंके सहारे चलनेवाला परिणामको नहीं जानता, वस्तुके रूपको जानता है। जो व्यक्ति यह जान ले इसका परिणाम अच्छा नहीं है, वही उसके उपभोगसे बच सकता है। भगवान् महावीरने कहा है—आयकदसी न करेइ पाव—जो आतकदर्शी होता है, वह पाप नहीं करता। पाप वही करता है जिसे पाप करनेमें आतक-दर्शन नहीं होता—अपना अनिष्ट नहीं दीखता। जो व्यक्ति यह जानता है कि मनमें एक बार बुरी भावना आनेका अर्थ है दिमागमें शैतानको पालना। वह बुरी

भावनासे हिंसामें घुसनेसे रोकेगा। किन्तु जो ऐसा नहीं मानता वह दूसरोंकी बुराई करनेमें बहुत रस लेता है। एक बार भी हिंसामें बुरी भावना आती है, वह अपना संस्कार छोड़ जाती है और वह संस्कार न जाने कब उद्बुद्ध होकर व्यक्तिको पकड़ लेता है। बहुत बार हम कल्पना करते हैं कि अमुक व्यक्ति इतना अच्छा है, उसने यह अनुचित काम कैसे किया? पर हम इस सत्यको भूल जाते हैं कि व्यक्ति वर्तमानसे ही प्रेरित नहीं होता, अतीतके संस्कारोंसे भी प्रेरित होता है। इसी सत्यके सन्दर्भमें भगवान् महावीरने कहा था—हिंसा इसलिए त्याज्य है कि उससे अपना पतन होता है।

[illegible] अपनी अनुभूतिके स्वरमें लिखा है—मैं किसीका तिरस्कार नहीं करता, क्योंकि वह मुझसे तिरस्कृत होकर मेरे अहितके लिए उग्र आवेगवान बन जायेगा—

नो हि [illegible] [illegible] निर्वैरत्वमुपाश्रितः [illegible] ।
मा च मा च [illegible] [illegible] ॥२१॥

वर्तमान तात्कालिक जोशमें बहुत—किया हुआ काम अवश्य भोगना पड़ता है। यह सिद्धान्त नैतिकताका आधार प्रस्तुत करता है। आपसके कलह तात्कालिक रस उसको हमारे सामने पोषक बनाते हैं। हम बहुत उसके परिणाम न भी जानें। उसकी बुराई कभी खुद भी हमारे सामने आ जाती है। क्या मूढ़ भोक्ताका उसके परिणामसे बच सकता है? कभी नहीं। मूढ़ भोगनेसे पहले आनन्द मिलता होगी है। भोगते समय मन होता है, इच्छा कलुषित बन जाती है और अन्तमें पश्चात्तापसे मन भर जाता है। इस प्रकार जीवन ही कालमें मूढ़ मानसिक प्रतिक्रियाएँ निर्मित बन जाती हैं।

अध्यात्मके प्रति जो आस्था होती है वह अपने हितके लिए होती है। दूसरोंके हीन मानने पर हीन नहीं होता, किन्तु हीन माननेवालेमें हीनता उत्पन्न हो जाती है। दूसरोंके प्रति अनुचित व्यवहार करनेवाला उसके प्रति

संवेग

वेग शब्द विज धातुसे बना है। जिसका अर्थ है जीवका कम्पन करना। वेग दो प्रकारका होता है—शारीरिक और मानसिक। भूख प्यास, पेशाब टट्टी, छींक आदि शारीरिक वेग हैं। क्रोध अभिमान कपट लोभ कामवासना आदि मानसिक वेग हैं। शारीरिक वेगको रोकनेसे हानि होती है और मानसिक वेगको न रोकनेसे हानि होती है। आयुर्वेदकी दृष्टिसे भी शारीरिक वेग रोकना उपयुक्त नहीं है। दशवैकालिक सूत्रमें कहा है—वच्चमुत्तं न धारए

मल-मूत्रके वेगको जो रोकते हैं उनके अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

मुत्तनिरोहे चक्खू, वच्चनिरोहेण जीवियं चयति।
उड्ढनिरोहे कोढं, सुक्कनिरोहे भवइ अपुमं॥

मूत्रका वेग रोकनेसे चक्षुकी ज्योति मन्द होती है। मलका वेग रोकनेसे जीवनी शक्तिका नाश होता है। अपानवायु रोकनेसे कुष्ठ रोग उत्पन्न होता है और वीर्यका वेग रोकनेसे पुरुषत्वकी हानि होती है।

संवेगका अर्थ है—मुक्ति या मोक्ष प्रति। ... उत्पन्न होता है—मोक्षके प्रति तीव्र अभिलाषा। पुरुष साधु ही नहीं गृहस्थ भी हो सकते हैं जो ... संयत हो। लालजीको एक दिन राजेन्द्र बाबूसे मिलने गये। द्वारपालने उनकी वेशभूषा देखकर जाने नहीं दिया। धुत्कारकर वापस कर दिया। राजेन्द्र बाबूने इस अपमानकी स्थितिको देख लिया। वे दौड़कर नंगे पाँव आये लालजीसे माफी माँगने लगे। उत्तरमें ... ने कहा—आप भारतके राष्ट्रपति हैं मैं तो इसके

मुक्त होना चाहता हूँ।

ये विचार वहीं उठते हैं जहाँ समताका भाव आता है। मनके अनुकूल कार्यमें गर्वकी अनुभूति होती है और प्रति स्थितिमें हीन-भावना सताती है। यह वृत्ति मनुष्यको बार-बार दुःखी बनाती है। निन्दा और प्रशंसामें सम रहना अति कठिन है। किन्तु मुमुक्षुको उनमें सम रहना चाहिए।

लाभालाभे सुहे , जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ॥

लाभ और अलाभ, सुख और दुःख, जीवन और मरण, प्रशंसा और निन्दा, मान तथा अपमान—ये पाँच युगल हैं। व्यक्तिमें मानवीय दुर्बलता होती है। इसीलिए वह पाँच युगलोंमें-से लाभ, सुख, जीवन, प्रशंसा और मानको चाहता है। अलाभ, दुःख, मरण, निन्दा और अपमान-को नहीं चाहता। नमें जिन पाँचोंको व्यक्ति चाहता है वे भी बन्धन हैं और उनसे अधिक गहरे हैं, जिनको वह नहीं चाहता। क्योंकि द्वेष और निन्दाकी बात समझमें आ जाती है पर राग और की बात स नहीं आती। जब यह आ जायेगा कि ये भी बन्धन हैं तभी साधना होगी। साधु बननेमात्रसे जीवन ऊपर उठ जायेगा, यह मानना भूल है। जीवन उन्नत तभी होगा जब उसकी साधना फलवती होगी। गृहस्थ-की सामायिक मुहूर्त-भर तक होती है साधु उसे जीवन-भरके लिए स्वीकार करता है।

सामायिकका अर्थ है—वि सर्वथा परिहार। लाभ और अलाभ दोनों जीवनकी विषमताएँ हैं। लाभ पहाड़ है तो अलाभ गड्ढा। है विक मा । पाँचों युगल जीवनकी विषमताएँ हैं। उनका त्याग ही सामायिक है। साधकमें सबसे पहले मुमुक्षा वृत्ति होनी चाहिए। उसके सुप्त होनेपर सब सुप्त हो जाते हैं। मुमुक्षा वृत्तिका परिणाम है—धर्मके प्रति श्रद्धा या इच्छा उत्पन्न होना। बिना

प्रयोजन इच्छा-प्राप्ति नहीं होती। अपनेसे मुक्त होनेकी इच्छाके लिए पहला साधन धर्म है। इसीलिए धर्मके प्रति श्रद्धा होती है फिर उसका आचरण। एक व्यक्ति क्रोधसे भर जाता है दूसरा क्षमा करता है। क्षमा करनेवाला शान्तिकी अनुभूति करता है। तब वह निश्चय करता है कि क्षमाका मार्ग सुन्दर है।

धर्मके अनुभव धर्मके प्रति श्रद्धा होती है और उससे अधिक गहरी बनती है। धर्मके प्रति श्रद्धा है या नहीं इसका सही उत्तर आत्म निरीक्षण से मिलता है। जिसके मनमें श्रद्धा होती है वह क्रूर व्यवहार नहीं करता। जहाँ उसके प्रति श्रद्धाका अभाव होता है वहाँ मन क्रूर होता है जो नहीं होना चाहिए।

धर्मकी वैज्ञानिकता

धर्म वैज्ञानिक तत्त्व है। वैज्ञानिक तत्त्व वह होता है जो देश-कालसे अबाधित हो जिसका निष्कर्ष सब देश-कालमें समान हो। अमरीकामें प्रयोग करनेसे सफलता मिलती है तो भारतमें भी उसका प्रयोग सफल होगा। एक वर्ष पहले प्रयोगमें सफलता मिली तो आज भी उतनी सफलता मिलेगी। समय और क्षेत्रसे जो अप्रभावित एकरूप रहता है वह वैज्ञानिक तत्त्व होता है। धर्म उससे अधिक परम वैज्ञानिक तत्त्व है। धर्म आराधना अमरीका भारत या अफ्रीका कहीं पर भी करें उसकी बराबर मिलेगा। आज करें और वर्षों बाद करें उसकी आराधना करें उसके परिणाममें कोई अन्तर नहीं आयेगा। धर्मकी आराधना करनेवाले सब मुक्त हो गये अतीतमें हो रहे हैं और भविष्यमें होंगे। इसलिए धर्म सार्वभौमिक है सार्वकालिक है और देश-कालसे अबाधित है। इसीलिए वह परम वैज्ञानिक तत्त्व है।

पाश्चात्य देशोंमें कभी वैज्ञानिक यह मानते थे कि अध्यात्मके बिना शान्ति नहीं मिलती। जैन-शास्त्रोंमें यह उल्लेख है कि चार साधु साधुत्व

मे रमण करता हुआ क्रमश सुखोमे आगे बढता है। एक वर्षकी साधनामे वह भौतिक जगत्मे उत्कृष्ट पौद्‌गलिक (सर्वार्थसिद्ध) सुखोंको लांघ जाता है। पांच, दश और पन्द्रह वर्षो तक साधुत्व पालनेपर भी यदि आनन्द नही आता तब प्रश्न उठता है कि यह सिद्धान्त सही नही है या वह हमारी पकडमें नही आया। पहली बात पकडकी है। वह सही है या नही ? इसका निर्णय पकडके बाद ही हो सकता है। उसे पकडनेमे ध्यान केन्द्रित करना जरूरी है। देवताओंका स्तर जैसे-जैसे ऊपर उठता है वैसे-वैसे उनका परिग्रह, ममत्व और शरीरकी अवगाहना कम होती जाती है, शान्ति बढती जाती है। निवृत्तिके साथ सुख भी बढता जाता है। हमे यथार्थ दृष्टिसे देखना चाहिए। उसके बिना हम सत्य तक नही पहुँच सकते। यथार्थ-दृष्टिसे देखनेपर यह स्पष्ट होता है कि भौतिक सुख भी क्षणिक सुख है पर उसे दु ख इसलिए माना कि उसका परिणाम सुखद नही है। एक सुख ऐसा भी है जिसका परिणाम सुखद है। ी प्राप्तिके लिए ही क्षणिक सुखका त्याग किया जाता है। सुख केवल शारीरिक ही नही मानसिक भी होता है। सबसे बडा सुख मनकी शान्ति है। मनुष्य वाद-विवादसे थकनेपर शान्तिकी शरणमे जाता है। सबसे बडा दु ख अशान्ति है। उसका मूल आवेग है। उसपर विजय पाना ही संवेगका मार्ग है।

•

निर्वेद

भगवान्की भक्ति करनेके बाद निर्वेद होता है। निर्वेदका अर्थ है— वैराग्य। वह तीन प्रकारका है—संसार-वैराग्य, शरीर-वैराग्य और भोग-वैराग्य। पतञ्जलिने वैराग्यकी परिभाषा की है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। पातञ्जल योग सूत्र १। १५,१६

दृष्ट (विषय) दो प्रकारके हैं—दृष्ट और आनुश्रविक। भोजन, वस्त्र, मकान आदि जो प्रत्यक्ष हैं वे सब दृष्ट हैं। जो इन्द्रिय विषय पढ़कर या सुनकर जाने जाते हैं वे आनुश्रविक हैं जैसे स्वर्ग-सुख आदि। दोनों ही प्रकारके विषयोंके प्रति तृष्णाके शान्त होनेपर वैराग्य होता है। यह साधकके लिए ही नहीं सबके लिए आवश्यक है। तत्त्व जिज्ञासु व मुमुक्षुके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा आत्मदर्शन नहीं होता। आचार्य कुन्दकुन्दने कहा—

ताव ण जाणदि णाणं विसयबलो जाव वट्टए जीवो।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेदि अप्पाणं॥

मनुष्य जबतक विषयोंमें फँसा रहता है तबतक आत्माको नहीं जान पाता। विषयोंसे विरक्त होनेपर ही वह आत्माको जान सकता है। विषयोंसे दूर होनेके लिए एक ऐसा लक्ष्य सामने रखना आवश्यक है जिससे पूर्वकृत विषय—सुखोंसे अधिक आनन्द मिले। अनित्य आदि बारह भावना और मैत्री आदि चार भावनाओंका अभ्यास भी विषय विरक्तिका एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। जिधर भी मन दौड़ रहा है उसको दूसरी ओर मोड़नेके लिए भावनाओंका बार बार अभ्यास करना आवश्यक

है। समुद्रकी तरह आत्माकी भी दो अवस्थाएं होती है—प्रशान्त और तरंगित।

> रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
> स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः॥

राग और द्वेषसे जिसका मन तरंगित नहीं है वही आत्म-तत्त्वको पाता है। आत्माके प्रति दृढ आस्था पैदा हुए बिना आनन्द नहीं ि । उसकी उपलब्धिके लिए ' त्यागकी भावना होनेपर सर्व उपलब्धि हो जाती है। सर्व प्राप्य है पर अध्यात्म अप्राप्य है। साधु-जीवनके प्रति आ ' इसलिए है कि अन्यत्र जो अप्राप्य है वह इसमें प्राप्य है। आत्माकी तरंगित दशा विकल्पसे होती है। वह शारीरिक और मानसिक ` ोंसे उत्पन्न होता है। भूख लगती है ध्यान टूट जाता है। प्यास लगती है एकाग्रता भंग हो जाती है। क्रोध आता है, चित्त चंचल हो उठता है। इस अवस्थामें जो प्राप्य है, वह दुनियाके किसी भी व्यक्तिको प्राप्य है। विषयका वैराग्य और आवेगोंपर विजय पाना हर किसीको प्राप्य नहीं है।

प्रश्न हो है—देह है तो इन्द्रिय विषयोंकी पकता रहेगी। तृप्ति भी रहेगी। वह रहेगी, उसे कौन अस्वीकार करता है। पर उसके साथ जो मानसिक लगाव है वह रहेगा यह जरूरी नहीं है। उसे छोड़ा जा है। इसीलिए भगवान् महावीरने कहा—निर्वेदका फल है सब भोगोंके प्रति विरक्ति। निर्वेदका दूसरा फल है आरम्भका परित्याग। जहाँ भोग है वहाँ आरम्भ है। जैसे ही भोगकी विरक्ति होती है, वैसे ही आरम्भके प्रति उदासीनता आ जाती है। उससे संसार-मार्ग विच्छिन्न हो जाता है।

[illegible] प्रवृत्तिके साथ बन्धन लगा हुआ है, जैसे अग्निके साथ धुंआ। 'सर्वारम्भा हि दोषेण, धूमेनाग्निरिवावृता।' प्रत्येक कार्यमें थकान होती है, निवृत्तिसे वह दूर होती है। जहाँ प्रवृत्ति है वहाँ अवश्य बन्धन है,

उसके छूटनेसे बन्धन भी टूट जाता है। बन्धनको तोड़नेके लिए ही मुमुक्षु बना जाता है। मुमुक्षाके बन्धनके प्रति घृणा होती है, उससे विराग होता है। विरागके प्रति आकर्षण होनेसे राग स्वयं नष्ट हो जाता है।

प्रवृत्तिके हेतु

भारतीय दर्शनकी परिपूर्ण सामाजिक जीवनकी परिकल्पना चार पुरुषार्थोंमें निहित है। वे हैं—काम, अर्थ, मोक्ष और धर्म। इनमें काम और मोक्ष दो साध्य हैं और शेष दो साधन हैं। काम शरीर प्रधान प्रवृत्ति है, अर्थ उसकी पूर्तिका साधन है। मोक्ष आत्माकी सहज प्रवृत्ति है, धर्म उसकी पूर्तिका साधन है।

आध्यात्मिकता मोक्ष स्वतन्त्रता—की अंतिम अवस्था है। जो स्वतन्त्रता चाहता है वह मोक्षके प्रति आस्थावान् नहीं है।

मनोविज्ञानके आचार्य डॉ० [illegible] कामको सब प्रवृत्तियोंका मूल मानता है। साम्यवादके आचार्य कार्ल मार्क्स सारी प्रवृत्तियोंका मूल अर्थ मानते हैं। उनके अभिमतसे अर्थपर ही सारे विकास आधारित हैं। अध्यात्मके आचार्य सारी प्रवृत्तियोंका मूल मोह है। काम और अर्थका विकास एकांगी है। सुखाभिव्यक्तिकी कल्पना परिपूर्ण है। मोहकी तरह निर्मोह भी प्रवृत्तिका हेतु है। सुखके लिए हर मनुष्य प्रवृत्ति करता है। भगवान् महावीरने कहा—सब प्राणोंको सुखके प्रति विराग होता है। यदि मोह ही प्रवृत्तिका हेतु होता तो साधु उसमें रत क्यों रहते? सुख दो प्रकारका है—सामान्य और असामान्य। जिस सुखमें बाधा उपस्थित हो सके वह सामान्य और जिसमें बाधा न आती हो वह असामान्य है। दूसरा व्यक्ति उसमें तृप्ति अवश्य है, सुखमें बाधा आ जाती है। क्षणिक सुख मनका है पर निर्बाध नहीं। प्रज्ञासे सुखी मनुष्य बाहरके सुखमें निरन्तर बाधा पहुँचायी जा सकती है। चिंता और प्रसन्नता की भूमिसे जो ऊपर उठा हुआ है। उसके सुखमें बाधा नहीं आती जा

सकती जितना भी पौद्गलिक सुख है वह सब अनैकान्तिक है। एक व्यक्ति संगीतमें आनन्द लेता है। १०५ डिग्री ज्वरमें कोई संगीत सुनाये तो उसे वह अच्छा नहीं लगता। प्रत्युत अप्रिय लगता है। जिस संगीतसे आनन्द आता था वही उसके लिए ज्वरमें दुःखका हेतु बन गया। मिठाई रुचिकर लगती है पर अरुचिके प्रकोपमें वह रुचिकर नहीं लगती। हर वस्तुमें समय, क्षेत्र आदिकी अपेक्षासे भेद आ जाता है। आत्मिक सुख आत्यन्तिक और एकान्तिक होता है इसलिए वह अनाबाध है।



सहिष्णुता

सहिष्णुता अच्छी है, यह सब स्वीकार करते हैं। पर समय पर उसे बनाए रखना कठिन है, यह भी अनुभव करते हैं। [illegible] यह हुआ कि सहिष्णुताको साधना जीवनमें आवश्यक है, किन्तु कठिन भी है। पहले उसे ध्येय मानकर चलनेसे वृत्तियोंमें अवश्य अन्तर आता है। हम साथ ही [illegible] एक निश्चित रूप है। उसकी सिद्धिके लिए सहिष्णुताका विकास करना आवश्यक है। बहुत कुछ त्याग भी करना पड़ता है, क्योंकि उसके बिना कोई गति नहीं। मेरे परिचित एक बन्धु मेरे पास आया। वह [illegible] व्यवसाय [illegible] बहुत कमाता था। अब वह किसीके यहाँ नौकरी करता है और मालिकके अनुशासनको भी सहता है। मैंने पूछा—क्या तुम सहते हो?

वह बोल न सका। नौकरीमें अनेक विवशताओंको सहना पड़ता है क्योंकि दूसरी ओर रोटीकी समस्या है। साधुओंके सामने रोटीकी समस्या नहीं है। इसलिए वे कभी-कभी परिस्थितियोंसे दूर भागते हैं। रोटीका प्रश्न लेकर चलनेवाला परतंत्र रहता है पर जिसके सामने रोटीकी समस्या नहीं है वह कभी-कभी [illegible] भी भाग जाता है। इसलिए आवश्यक है कि हम अपने [illegible] रहती है। [illegible] अहिंसाका [illegible] होता है। इसीलिए भगवान् महावीरने कहा—[illegible] मन करो। ये [illegible] कर देते हैं। [illegible] है कि [illegible] है। यहाँ [illegible] कुछ नहीं। दूसरे सब अच्छा लगता है। [illegible] स्थिति स्थापित हो जाती है।

कोई-कोई व्यक्ति थोड़ी-सी कठिनाईमें घबरा जाते हैं। थोड़ी-सी सहिष्णुता न होनेसे ही ऐसा होता है। जरा सोचें—कठिनाई कहाँ नहीं है? क्या गृहस्थ जीवनमें कठिनाइयाँ नहीं हैं? साधु-जीवनमें सर्दी, गरमी, भूख, प्यासकी कठिनाइयाँ समय-समयपर आती हैं और मान, अपमान, निन्दा आदिकी स्थितियाँ भी आती हैं। क्या इनसे घबराकर पीछे हट जाना बुद्धिमानी है? यह मार्ग हमने जान-बूझकर स्वीकार किया है, फिर घबरानेकी क्या बात है? कठिनाइयोंसे घबराना रोगका सही इलाज नहीं है। उसका सही इलाज यह है कि कठिनाइयोंको अनुभवी साधुओंके सामने रखें और उनसे मार्ग-दर्शन लें। इससे मनका बोझ हल्का हो जाता है। रोगी आदमी अपनी नाड़ीको वैद्यके हाथमें दे देता है, वैसे ही मनकी चिकित्साके लिए अच्छे वैद्य (गुरु आदि) को चुनना चाहिए। शरीरकी कुशलताकी तरह मानसिक शक्तिकी कुशलताकी भी चिन्ता होनी चाहिए। मानसिक चिकित्सक चुननेके बाद उसके सामने स्थिति स्पष्ट रखनी चाहिए और होना चाहिए उसके मार्ग-दर्शनमें समर्पण-भाव। चिकित्साके समय रोगका उभार आता है पर वह सीमासे बाहर नहीं जाता क्योंकि चिकित्सकका उसपर नियन्त्रण रहता है। इसी प्रकार मानसिक रोग भी कभी-कभी चिकित्सा कालमें उभर आता है पर कुशल चिकित्सककी देख-रेखमें वह सीमाका अतिक्रमण नहीं करता। इसीलिए मानसिक स्वस्थताके लिए कुशल चिकित्सकका मार्ग-दर्शन लेना अत्यन्त आवश्यक है। उसका सहिष्णुताके विकासमें बहुत-बड़ा योग हो सकता है।

व्यक्ति अपनी गलतीसे अथवा झूठे अभियोगोंसे स्थानसे हटा दिया जाता है। उस समय वह परिस्थितिसे बाध्य होकर यदि निष्क्रिय बनता है तो परिस्थितियाँ उसपर छा जाती हैं और उसे उठनेका अवसर नहीं देतीं।

जो वर्तमानमें अपमानकी घूँट पीकर भी अपनी कर्तृत्व-शक्तिका

उपभोग करता है [illegible] समय भी साथ निभाता है। वह अपमानको पीछे छोड़कर [illegible] [illegible] स्थान बना लेता है। इसलिए हर परिस्थिति [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कभी निराश नहीं होता।



समर्पण

समर्पण दो प्रकारका होता है—१ वैधानिक, २ आत्मगत ।

आचार्य सबके नायक हैं, हमारे नियामक हैं। उनके आदेशानुसार हमारा सारा व्यवहार चलता है। इस दृष्टिसे उनको हमारा वैधानिक समर्पण है। वे आज हमे हजार मीलकी यात्राका आदेश दें तो हम उसका पालन करेंगे। पर मैं आज जिस विषयका स्पर्श करूँगा उसमें वैधानिक समर्पणकी बात नहीं होगी। हजार मील चले जाना एक बात है और हजार मील चले जानेमें कृतार्थताका अनुभव करना दूसरी बात है। कृतार्थताका अनुभव आत्मगत समर्पणमें ही हो सकता है। जहाँ व्यक्तिका विकास हुआ है वहाँ समर्पणकी भावना प्रधान नहीं है। कृष्णने अर्जुनसे कहा—'मामेकं शरणं व्रज।' व्यवहारमें यह जटिल-सा लगता है और लगता है कि इसमें अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता। वह दूसरेमें विलीन हो जाता है। यह भी कम जटिल नहीं है कि जो समर्पित नहीं हुआ वह कुछ पा भी नहीं सका। क्या महावीर, बुद्ध और भिक्षुने समर्पण नहीं किया? किया है, उसके बिना उनकी साधना सिद्धि तक कैसे पहुँच पाती? बुद्धने कहा—

> इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु ।
> अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां नैवासनात् कायमिदं चलिष्यति ॥

जबतक बोधि प्राप्त नहीं होगी, इस आसनसे मेरा शरीर नहीं चलेगा। क्या यह समर्पण नहीं है? क्या महावीरने समर्पण नहीं किया? 'मुझे कैवल्य प्राप्त नहीं होगा तबतक मैं सभी प्रकारके कष्टोंको सहन करूँगा।' क्या यह समर्पण नहीं है? ऐसा समर्पण उन सब महा-

पश्चात् किया है जिनको अपनाने अपनाया साथ-सहन मिला। जबतक मनुष्य अपना परिवारका भार होता है तबतक वह भारी बना रहता है। व्यवस्थापन व्यक्ति हल्का बना रहता है। ऐश्वर्यमान व्यक्त ही भारी बन। अतः बलवान्का अपना अपनाको पहले घट जाती होती है।

व्यक्तिको सहज रूपसे समर्पित अपने प्रति अपने व सबके प्रति होना चाहिए। उसका आचार्यके प्रति बहु सहज समर्पित हो जायगा। व्यक्तिके प्रति समर्पित हुए बिना वह आचार्यके प्रति भी समर्पित नहीं हो पाता। आचार्य भाव का सम्बन्ध है पर उनकी एकतासे आधारित है। समय अधिकार रहता है तबतक अपनेपन अथवा अधिक रहता है। जितना स्पष्ट महान् व उनकी शक्ति है, वह उसके लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया।

समय का साम-सामने प्रति समर्पण होना चाहिए। क्योंकि व न सब भिन्न होते हैं। हमारे साध-साधक आराध्य हैं। उनके प्रति समर्पण दो रूपोंमें होता है—व्यावहारिक और आत्मिक। व्यावहारिक समर्पण बुद्धिका प्रयोग करता है, उसमें हृदय अभिभूत नहीं होता। हमारे लिए व्यावहारिक समर्पण बहुत सम्यक् नहीं होना चाहिए। विचारमें ज्ञान प्रेरक होता है और भावनाएँ मात्र सूचक होती हैं। साधुओंके रजोहरणको श्रावक लोग लाँघकर नहीं जाते क्योंकि उनकी सूचक शक्ति है। वह किसीको नहीं रोकता फिर भी कोई उसे लाँघकर नहीं जाता।
आत्मीयता नहीं होती वहाँ सामाजिकता दिखाया [illegible]
दिखता है जब आचार्यके आदेशका पालन किया [illegible]
हो तब आचार्यके आदेशका अतिक्रमण करनेमें [illegible]
एक निश्चित आत्मीयता प्रकट नहीं होता।

यहाँ पद-निष्ठा [illegible] नहीं [illegible]
होता है। यहाँ [illegible] होती है
एक विचार आता [illegible]

हमारा भी व्यक्तित्व है, पढ़े-लिखे हैं, बीसवीं सदीमें जी रहे हैं। इन विचारोंसे समर्पणमें कठिनाई आती है पर हम क्यों भूल जाते हैं कि हमारा मार्ग साधनाका मार्ग है, मयमका मार्ग है।

'छन्द निरोहेण उवेद् मोक्खं'—

मोक्ष तभी प्राप्त होगा जब अपनी इच्छाओंका निरोध किया जायेगा। इच्छाका निरोध और समर्पण दो नहीं है। जहाँ इच्छाका निरोध है वहाँ समर्पण है। जहाँ समर्पण है, वहाँ इच्छाका निरोध है।

आचार्य एक कार्यके लिए मार्ग-दर्शन देते हैं कि तुम्हें वहाँ ऐसा करना चाहिए। उस मार्ग-दर्शनके प्रति यदि विभिन्न धारणाएँ उत्पन्न हो तो समझना चाहिए वह समर्पण नहीं है। समर्पण करनेवाला अपने लिए शेष कुछ नहीं रखता। अपने लिए शेष रखे, वहाँ समर्पण नहीं होता। गुरुका आदेश पाते ही शिष्य बिना ननु न च किये साँपके दाँत गिनने लगा। यह समर्पण है। भगवान् महावीरने गौतमको अन्त समयमें अन्यत्र भेजा। वे सहज भावसे चले गये। विधानकी भाषा इस समर्पणको छू नहीं सकती। विधानकी भाषापर चलकर कोई समर्पण कर भी नहीं सकता। सत्यके प्रति अपने- ो समर्पण कर देना सत्यके प्रति समर्पण है। कठिनाईमें भी आस्था न डिगे तब माना जा सकता है कि आस्थासे उठा हुआ समर्पण है। आत्म-समर्पणमें अपनी समस्याका भार स्वयको उठाना नहीं होता। जहाँ समर्पण नहीं होता वहाँ अपनी चिन्ता सताती है मार्ग-दर्शकके प्रति श्रद्धा नहीं जमती।

मैं सोचता हूँ अमुक व्यक्ति मेरा सहयोगी है, उसके साथ रहनेमे मेरा हित है। आचार्य यदि कहें कि तुम उसके साथ मत रहो, उस समय पारा चढ़ जाता है। क्या हमने समर्पण इसलिए किया था कि हमें गेंदकी तरह इधर-उधर धकेला जाये—कभी किसीके साथ, कभी किसीके साथ? आचार्य हमारी स्थितियोंको अनुभव ही नहीं करते। ऐसे प्रश्न दिमागमें घूमने लग जाते हैं। समझना चाहिए—समर्पणका आनन्द अभीतक नहीं

प्रयास किया है जिनकी वे सारे अनुशासन आत्म-दर्शन मिला। जबतक मनुष्य अपना पृथकवाला भार ढोता है तबतक वह भारी बना रहता है। समर्पित व्यक्ति हलका बना रहता है। अहंकारी सब ही भारी बन। यहां देखनेवालेकी अपेक्षा देखनेवालेकी नजरें पर पीनी होता है।

व्यक्तिको सबसे पहले समर्पित अपने प्रति अपने अन्यके प्रति होना चाहिए। जबतक आत्माके प्रति वह स्वयं समर्पित हो जायगा। अन्यके प्रति समर्पित हुए बिना वह आत्माके प्रति भी समर्पित नहीं हो पाता। आत्माके साथ या सम्बन्ध है वह अन्यकी तुलनामें आधारभूत है। जबतक व्यक्तित्व रहता है तबतक अपनापन अवश्य अंकित रहता है। जिसका सब महान् सत्यकी प्राप्ति है, उस सबके लिए अपना सबकुछ समर्पित कर देना।

अपनेसे बाद मानव-जातिके प्रति समर्पण होना चाहिए। क्योंकि व सबसे भिन्न होते हैं। हमारे आत्म-तत्त्व आत्मवत् है। उनके प्रति समर्पण दो दृष्टियोंसे होता है—व्यावहारिक और आत्मिक। व्यावहारिक समर्पण सुविधा स्थापित करता है उससे हृदय अभिभूत नहीं होता। हमारे लिए व्यावहारिक समर्पण बहुत मूल्यवान नहीं होना चाहिए। विचार भाव प्रेरक होता है और भावनाएं भाव सूचक होती हैं। साधुओंके रजोहरणको मानक कौन छीनकर नहीं जाता क्योंकि उनका सूचक शक्ति है वह किसीको नहीं रोकता फिर भी कोई उसे छीनकर नहीं जाता। जिस वैज्ञानिकताके पीछे आत्मीयता नहीं होती वहां आध्यात्मिकता विफलता पर होती है। कोई दूसरा देखता है तब आचारके आदेशका पालन किया जाये और कोई नहीं देखता हो तब आचारके आदेशका अतिक्रमण करनेमें कोई संकोच नहीं होता। यह स्थिति आत्मानुशासन नहीं होता।

जहां पर विचारका समर्पण व्यावहारिक नहीं होता वहां आत्माका उदय होता है। वहां व्यावहारिकता प्रधान होती है वहां आत्मा दब जाती है। एक विचार आता है—हम दूसरोंमें अपना अस्तित्व विलीन क्यों करें?

हमारा भी व्यक्तित्व है, पढ़े-लिखे हैं, बीसवीं सदीमें जी रहे हैं। इन विचारोंसे समर्पणमें कठिनाई आती है पर हम क्यों भूल जाते हैं कि हमारा मार्ग साधनाका मार्ग है, संयमका मार्ग है।

'छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं'—

मोक्ष तभी प्राप्त होगा जब अपनी इच्छाओंका निरोध किया जायेगा। इच्छाका निरोध और समर्पण दो नहीं है। जहाँ इच्छाका निरोध है वहाँ समर्पण है। जहाँ समर्पण है, वहाँ इच्छाका निरोध है।

आचार्य एक कार्यके लिए मार्ग-दर्शन देते हैं कि तुम्हें यहाँ ऐसा करना चाहिए। उस मार्ग-दर्शनके प्रति यदि विभिन्न धारणाएँ उत्पन्न हो तो समझना चाहिए [illegible] समर्पण नहीं है। समर्पण करनेवाला अपने लिए शेष कुछ नहीं रखता। अपने लिए शेष रखे, वहाँ समर्पण नहीं होता। गुरुका आदेश पाते ही शिष्य बिना ननु न च किये साँपके दाँत गिनने लगा। यह समर्पण है। भगवान् महावीरने गौतमको अन्त समयमें अन्यत्र भेजा। वे सहज भावसे चले गये। विश्वासको मापा इस समर्पणको आ नहीं सकती। विश्वासकी भाषापर चलकर कोई समर्पण कर भी नहीं सकता। सत्यके प्रति अपने-आपको समर्पण कर देना सत्यके प्रति समर्पण है। कठिनाईमें भी आस्था न डिगे तब माना जा सकता है कि आस्थासे उठा हुआ समर्पण है। आत्म-समर्पणमें अपनी समस्याका भार [illegible] ो उठाना नहीं होता। जहाँ समर्पण नहीं होता वहाँ अपनी चिन्ता सताती है मार्ग-दर्शकके प्रति श्रद्धा नहीं जमती।

मैं सोचता हूँ अमुक व्यक्ति मेरा सहयोगी है, उसके साथ रहनेमें मेरा हित है। आचार्य यदि कहें कि तुम उसके साथ मत रहो, उस समय पारा चढ़ जाता है। क्या हमने समर्पण इसलिए किया था कि हमें गेंदकी तरह इधर-उधर धकेला जाये—कभी किसीके साथ, कभी किसीके साथ? आचार्य हमारी स्थितियोंको अनुभव ही नहीं करते। ऐसे प्रश्न दिमागमें घूमने लग जाते हैं। समझना चाहिए—समर्पणका आनन्द अभीतक नहीं

मिला है। यहाँ व्यक्ति अपना चिन्तन आत्म-ध्यानसे अधिक मानने लग जाता है वहाँ ऐसी समस्याएं नहीं हो पाती हैं। आत्म-ध्यानके चिन्तनपर आस्था रखनेवालेको कोई कठिनाई नहीं होती। द्रोणाचार्यने एकलव्यसे अंगूठा मांगा। उसने तत्काल काटकर दे दिया। वहाँ चिन्तनकी कोई मात्रा नहीं बोलती थी कि उसे देना ही पड़े। उसने सोचा कि जिसको मैंने गुरु मान लिया उसके प्रति क्या कहा कथन है।

उसने अपना कर्तव्यका पालन किया और अंगूठा दे दिया। कभी-कभी गुरु और आचार्य दो हो जाते हैं। एक गुरु होते हैं पर आचार्य नहीं एक आचार्य होते हैं पर गुरु नहीं। गुरुके प्रति अर्पण समर्पण होता है। आचार्यके प्रति वह अर्पण नहीं भी होता पर कर्तव्यके नाते भी आचार्यके प्रति समर्पण आवश्यक है। आचार्य भी इस बातसे इतनी अपेक्षा तो रख सकते हैं कि उनके धर्म कर्तव्यके आगे समर्पण कोई कठिनाई न आए। चूंकि नहीं हो तो और अच्छा। मेरा अपना अनुभव है—

एक समय चिन्तन किसे कहा जाता है न यही जानता था। स्वेच्छ गुरु-भक्तिके आधारपर काम चलता था। वैसे ही संस्कार पड़ गये। किसी दूसरेको यह अच्छा भी न लगे पर ऐसा होता था। अब चिन्तन होने लगा तो देखा अपने लिए चिन्तन करनेसे विस्तार आ सकता है। क्या अच्छा हो कि आपको अपनेके लिए दूसरोंको दुख दें और स्वयं इससे ही बचें। फिर उनसे मुक्त रहना दुष्कर स्थिति है पर इसमें मोह बताता है कि उससे हमारा स्वार्थ-सा सिद्ध जाता है। जब हम विहार करते हैं तब कष्टोंके कारण क्या दूसरोंको अपना कष्ट नहीं देते। अपना जीवन अच्छा है इसलिए अपनी चिन्ताओंसे छूटनेके लिए दूसरोंको सहयोगी बना लें, जो हमारा भार ढोवें और हम सुखसे रहें। उससे सरल जीवन बितानेका अवसर मिलता है। निश्चिन्ततामय जीवन तभी मिलता है जब चिन्ताका भार कोई स्वयं न ढोए। दूसरोंको भारवान् बनाना ही समर्पण है।



प्रामाणिकता

व्यक्ति जितना आध्यात्मिक होगा उतनी ही उसमें सत्य-निष्ठा बढ़ेगी। सत्य-निष्ठ सहज प्रामाणिक होता है। अधिकांश लोग सोचते हैं—अमुकने अमुक कार्यमें लाभ उठाया तब मुझे वह क्यों नहीं करना चाहिए? यह चिन्तन परिस्थितिसे जुड़ा हुआ है। क्या हम भी परिस्थितिके सन्दर्भमें सोचें? और यदि सोचें तो क्या वह उचित होगा? कुछ लोग कहते हैं कि अमुक काम हम करना नहीं चाहते थे, पर सामनेवालेने किया तब हमें भी वैसा करना पड़ा। तो क्या हम भी ऐसा करें और यदि करें तो क्या ऐसा करना हमारे लिए उचित होगा? किसी एक साधुने सर्वसामान्य व्यवस्थाका अतिक्रमण किया। तब क्या दूसरा भी यह सोचे कि अमुकने अतिक्रमण किया है, मैं भी क्यों न करूं? आध्यात्मिकतामें विश्वास रखने-वाला ऐसा नहीं सोच सकता।

संसारमें अनेक प्रकारकी भोग-सामग्री है, सुख-सुविधाके साधन हैं। समाजके व्यक्ति उनका भोग करते हैं। क्या साधु ऐसा सोच सकता है कि सामाजिक व्यक्ति उन पदार्थोंका भोग कर रहे हैं, हम क्यों न करें? यदि वह ऐसा सोचे तो वह साधु नहीं बन सकता। पर साधना आखिर साधना ही है, सिद्धि नहीं। उसमें कभी-कभी छिपी दुर्बलता प्रकट हो जाती है और दुर्बलताके प्रवाहमें बहकर कोई-कोई वैसा काम कर लेता है जो साधुको नहीं करना चाहिए। किन्तु उसे उदाहरण मानकर क्या दूसरे-के लिए भी वैसा करना उचित होगा? सब व्यक्तियोंको खाते देख, प्रश्न उठेगा—मैं क्यों उपवास करूं? पर क्या उ [illegible] तभी करना चाहिए जब सबको खानेको न मिले। ऐसा नहीं है। जब सबको भर-पेट [illegible] गे

मिलता है तब भी उपवास किया जा सकता है और अपनी स्वतन्त्र भावना से किया जा सकता है। आपको कोई कमी नहीं है पर साधकको शुद्ध आहार नहीं मिला या कम मिला उस समय उसका चिन्तन यह नहीं होता कि सब लोग खा रहे हैं मैं भूखा क्या रहूँ? किन्तु वह इस प्रकार सोचता कि आज सहज ही मेरे उपवास या ऊनोदरी हो गयी। भगवानने कहा— इसीलिए भिक्षुओ!—आहार न मिलने या कम मिलनेपर सहज तप हो रहा है यह जानकर सुखपर चिन्तन या लेना चाहिए।

एक व्यक्ति गाली देता है स्वभाव उत्तेजनाके कारण दूसरा भी पाँच गाली देता है। यह व्यक्तिपर परिस्थितिकी विजय है। व्यक्तिको परिस्थितिसे प्रभावित नहीं होना चाहिए। जब कसौटीका विपरीत प्रसंग आता तब है, तब धैर्य धारण रखना चाहिए।

'वह प्राचीन परम्परा—यह मान्यता आजके वातावरण में उलटी जा रही है। एक चीज है फैशन-आकर्षण और जो उसे देखकर चलते हैं उसमेंसे और वह भी अल्पकालीन समस्याएँ। यह कैसे उचित हो सकता है? हमारी मान्यताका आधार वीतराग होना चाहिए।

अनुकरण वृत्ति खतरनाक होती है। उसमें भूलभुलैया में पड़ा व्यक्ति फँस जाता है। साधना स्वीकारके समय कोई यह कल्पना नहीं करता कि अमुक-अमुक ठीक रहेंगे तो मैं भी ठीक रहूँगा। व्यक्तिके पीछे चल सामने सिद्धान्तका साथ नहीं छिन जाता। व्यक्तिगत व्यक्तिसे कोई गलती हो जाये तो वह क्षम्य है पर परिस्थितिके सहारे हो वह क्षम्य नहीं है। आध्यात्मिक व्यक्तित्व वस्तुस्थितिके विचार प्रधान होने चाहिए। भगवान् महावीरने कहा है—जिस या उसके या सम्पत्ति या परिस्थितियों या भूखे या प्यासके या। जिस अवस्था उचित बनाने या कोशिश स्वयम या साधुत्व आवश्यक आध्यात्मिक पवित्र कोई अनुचित काम नहीं करता। वीरोंने अग्निके समान उनके ऊपर खड़े होकर कहा—

मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नमार्गे,
यदि मम पतिभावो राघवादन्यपुंसि ।
तदिह दह शरीरं मामकं पावकेदं,
विकृतसुकृतभाजां येन साक्षी त्वमेव ॥

नींदमें भी मेरा मन विचलित हुआ हो तो तू मुझे जला डाल—ऐसी कठोर बात कोई आध्यात्मिक व्यक्ति ही कह सकता है, दूसरा नहीं कह सकता।

साधु परिषद्में प्रामाणिकताकी चर्चा करना कोई मूल्य नहीं रखता। कोई आध्यात्मिक है और प्रामाणिक नहीं है, ऐसा नहीं हो सकता और यह भी नहीं हो सकता कि कोई प्रामाणिक तो है पर आध्यात्मिक नहीं है। साधु वे ही होते हैं जिनकी अध्यात्मके प्रति गहरी निष्ठा होती है। उनकी प्रामाणिकताका सीधा सूत्र है—'जो वीतरागने किया वह करो, जो न किया वह मत करो।'

भगवान् महावीरने प्रामाणिकताका बहुत सूक्ष्म विचार किया है। उन्होंने बताया—एक साधु गृहस्थके घरसे 'पछेवड़ी (उत्तरीय वस्त्र) सीऊँगा'–यह कहकर सूई लाया तो वह उससे चोलपट्टा (अधोवस्त्र) नहीं सी सकता। 'नाखून काटूँगा–यह कहकर कैंची लाया तो वह उससे वस्त्र नहीं काट सकता। बीमार साधुके लिए दूध चाहिए, यह कहकर दूध लाया तो उसे कोई दूसरा साधु नहीं पी सकता। प्रामाणिकताका यह कितना गहरा निदर्शन है। इसे वे ही व्यक्ति निभा सकते हैं जो आध्यात्मिक हैं।

परिस्थितिपर विजय

कल मैं अपनी आस्थाके स्वरमें बोला। उसी विश्वासमें चलता आया हूँ। परिस्थितिका कभी कायल नहीं बना। क्या यह व्यवहारमें सम्भव

है? यह प्रश्न हो सकता है। मैं इसका उत्तर इसी भाषामें दूँगा कि यह असम्भव नहीं है। सच तो यह है कि साधकको परिस्थितिके सामने घुटने नहीं टेकने चाहिए। यह पलायनका मार्ग है। साधना करनेवाला पूर्ण नहीं होता पर जब परिस्थितिके अनुरूप अपनी अपूर्णताको शोधन कर जाता है तब उसकी साधना सफल हो जाती है। जो साधक होता है वह परिस्थितिके साथ अपनी दुर्बलताको भी देखनेका प्रयत्न करता है। जो ऐसा करता है वह परिस्थितिके सामने घुटने नहीं टेकता। कठिनाइयाँ हर व्यक्तिके सामने आती हैं और परिस्थितियाँ हर व्यक्तिको सताती हैं पर उनसे पराजित वे ही होते हैं जिनके पास साधनाका बल नहीं होता। दूसरी बात—साधक उपायसे शून्य नहीं होता। उसका कर्तव्य है जो निर्धारित काम उसे करनेके सामने रखा है। उसके सिरपर उसका भार न होने। सामान्य व अधिकारी व्यक्ति उसपर अपना काम थोपते। थोपना हर व्यक्तिका काम नहीं है। उसका उचित परिस्थिति की स्थितिमें रख दें तो गलत कहलाया जाय।

हम परिस्थितिको बदलें नहीं। कठिन बन है एक बात बताना चाहता हूँ। जहाँ कठिनाई आती उस व्यवस्थातक पहुँचा दें। उसे उचित स्थानपर न पहुँचानेके कारण ही समाज व व्यक्तिके लिए घातक होता है। परिस्थितियोंपर चिन्तन करते न रहे हुए करनेका दायित्व और कार्यपर है। उसका यह प्रभाव पड़े कि किसीको अस्वीकारता अनुभव न हो। जो सन्तोष होता है वह सम्भवतासे होता है। उसे दूर करना अभिरुचि बनका काम है। हमारा काम है—परिस्थितिका कायल न होना, सहिष्णु बनकर उसका सामना करना और अपनी आस्थाको बनाये रखना। आलोचना जीवनको अस्त-व्यस्त बना देती है। परिस्थितिसे पराजित होकर थोथी भी कठिनाईको न सहन करना क्या बुद्धिमत्ता है? परिस्थितियाँ आती उनका उचित समाधान खोजें पर उनसे पराजित

परस्परता

साधनाके दो रूप हैं—वैयक्तिक और सामाजिक। हमारा संगठन है, संघ है, संघ-बद्धता है, परस्पर सहवास है, सहवास है। जहाँ अनेक व्यक्तियोंके साथ रहना है वहाँ कठिनाई भी होती है। अपनी-अपनी रुचि होती है, अपना अपना संस्कार। सब एक रुचिके नहीं होते। चिन्तन भी सबका एक नहीं होता। यह भिन्नता स्वाभाविक भी है। भगवान महावीरने कहा—पत्तेयं सण्णा पत्तेयं विण्णू पत्तेयं वेयणा।

यह व्यक्ति-स्वातन्त्र्यका सम्मान है। हम परस्पर रुचि व संस्कारका सम्मान करते ही समस्या जटिल नहीं बनती है, नहीं तो समस्या बन जाती है। पदार्थ-जगत्‌में भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य टिका है। यदि सब एक समान होते तो सब एक रूपमें एक समान होते। मनुष्य चेतनावान् है। चेतनाका धर्म है—विभिन्नता—रुचि व संस्कारोंकी विभिन्नता।

पारस्परिकताका पहला सूत्र है—सहिष्णुता। अपनी रुचियोंके अतिरिक्त रुचि सबको परस्पर सहन करना चाहिए। सामञ्जस्यका अपनी सहभागी और सहगामीको अपना अवकाशकी रुचिका सम्मान करना चाहिए। जहाँ दोनोंकी रुचि टकराती हो दोनोंको ही थोड़ा थोड़ा सहन कर लेना चाहिए।

जहाँ सहन करनेकी शक्ति कम होती है वहाँ परस्पर कलह होता है। साधकमें सहिष्णुता अधिक होना चाहिए। आखिर गृहस्थ भी तो सहन करते हैं। पुरानी कहानी है—चीनका बादशाह अपने मन्त्रीके घर गया। उसका परिवार बड़ा था। सब साथ रहते थे। बादशाहने पूछा मंत्रीसे—तुमने सबको कैसे निभाया? मंत्रीने उत्तर दिया—मैंने सब कुछ सहा।

संघमें आचार्य सर्वाधिकारसम्पन्न होते हैं। वे भी समय-समयपर बहुत-कुछ सहते हैं। सहन करना बड़प्पनका लक्षण है। जो छोटे हैं, उनकी अपेक्षा अग्रगामीको सहन करनेका अधिक विकास करना चाहिए ऐसा करके ही वे छोटोंको सहिष्णुताका पाठ पढ़ा सकते हैं।

कोई व्यक्ति स्खलना करता है। दूसरा उसे न बताये तो गलती आगे बढ़ती है और मनका मनटन शिथिल होता है। यदि बताया जाये तो उसे चोट-सी लगती है। ऐसी स्थितिमें तीसरा मार्ग अपनाना चाहिए। गलतीका प्रतिकार अवश्य होना चाहिए पर साधना-शुद्धिके साथ। अविकारकी भाषाके स्थानपर सुझावकी भाषा अधिक सुफल देती है। जितना बेहूदा है ऐसा कार्य करता है। इसके स्थानपर—यदि तुम ऐसा नहीं करते तो अच्छा रहता, या ऐसा करते तो कैसा रहता।—ये वाक्य गलती बताते हुए भी उसे उत्तर बनानेका अवसर नहीं देते। सुझावकी भाषामें कहनेसे उसे बुरा नहीं लगता। यह अध्यात्म-पद्धति है, हृदय-परिवर्तनका मार्ग है। इसे अपनाकर हम उसे सोचने-समझनेका अवसर [illegible] है। हृदय परिवर्तनके प्रयोग अनेक लोगोंमें किये जा रहे हैं। कुछ जेलोंमें भी उन्हें महत्त्व दिया जा रहा है। आचार्य भिक्षुने कहा है—धर्म बल-प्रयोगसे नहीं होता, वह हृदय-परिवर्तनसे होता है।

छोटा साधु बड़े साधुकी गलती देखे तो उसे नम्रतासे सूचित करना चाहिए। भाषाका व्यवहार सम्यक् होनेसे सोचनेकी पद्धति भी ठीक हो जाती है। कटु भाषासे व्यवहार भी कटु बन जाता है। कहने-कहनेमें दिन-रातका अन्तर होता है। मिष्ट शब्दोंमें दिया गया उपालम्भ भी हृदयमें नहीं चुभता। इसीलिए भगवान् महावीरने भाषाका विवेक दिया। भाषाके विषयमें जितना भगवान् महावीरने कहा उतना शायद ही किसीने कहा हो।

भाषाके व्यावहारिक पहलूपर भी ध्यान देना आवश्यक है

१ जहाँ दूसरोंसे सहयोग लेनेकी अपेक्षा हो वहाँ 'कृपया' शब्दका प्रयोग

करना चाहिए। प्राचीन पद्धतिमें [illegible] शब्द प्रयोगमें आता था। आजकल भी विशेष परिस्थितिमें ही [illegible] प्रयोग करते थे। [illegible] [illegible] प्रयोग आता था। पाश्चात्त्य देशोंमें Please (कृपया) शब्द [illegible] व्यवहृत होता है। २ काम समाप्तिपर [illegible] शब्दके द्वारा आभार प्रदान करें। ३ अविनय या [illegible] होनेपर [illegible] है ऐसा ही [illegible] शब्दके द्वारा खेद प्रकट करें। ४ कोई काम करनेको कहे उस समय न कर सके तो कहे—मुझे क्षमा करें [illegible] काम करनेमें असमर्थ हूँ। ५ स्त्रीजातिके [illegible] [illegible] प्रयोग होना चाहिए। ६ अनुभूतिकी विशदताके कारण छोटे-छोटे [illegible] भी [illegible] पता कर देते हैं। [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] नहीं है [illegible] जाति-जाति [illegible] द्वारा [illegible] चाहिए। [illegible] हो सकता है [illegible] जाता है। ७ एक व्यक्ति दूसरेके विचारसे [illegible] करता है। [illegible] निकलती है। [illegible] [illegible] न कहकर मुझे [illegible] है [illegible] प्रयोग व्यवहारमें [illegible] जाता है। [illegible] होनेसे व्यवहार [illegible] जाता है इसलिए [illegible] प्रयोग आवश्यक होता है। ८ [illegible] नहीं होती। कुछ लोग छोटी बातको भी [illegible] देते हैं और [illegible] व्यक्ति बड़ी बातको भी दो [illegible] कर देते हैं।

[illegible] बात [illegible] हो उसे [illegible] सोचना चाहिए, कुछ विचारकर फिर उत्तर देना चाहिए।

[illegible] [illegible] विद्धि [illegible]।
[illegible] [illegible] ॥

वाणीकी [illegible] है यह [illegible]

चित् है। पग-पगपर जो अशान्त बने वह कैसे शान्तिज हो सकता है।

पडिकूलंमि जम्मि मणा-मणग-मणागम्मि गुरुणा चोइए संते
रागद्दोसेण जि अणुसमए न सीयलो न गच्छइ।

—थोड़ा-सा प्रतिकूल सुननेपर राग-द्वेषमें आ जाते हैं, कहनेवाला सोचता है—मैंने इसे कहकर भूल की, ऐसे अधीर साधुओंका संघ गच्छ ही नहीं कहलाता।

जहां कटु या प्रतिकूल स्थितिको शान्त मनसे सहा जाता है वही गण वस्तुतः गण होता है। उसीमें रहनेवालोंका सामुदायिक जीवन सुखद, सरल और पारस्परिकतासे पूर्ण होता है।



तुम अनन्त शक्तिके स्रोत हो

तुम केवल देह ही नहीं हो और मन भी नहीं हो। देहके आगे तुम्हारी इन्द्रियाँ हैं। उनके आगे मन है। उसके आगे है आत्मा। तुम आत्माको मानो या मत मानो यह तुम्हारी इच्छा है। क्योंकि यह मर्जी है। तुम स्वतन्त्र हो। तुम सिर्फ इनकार कर सकते हो कि आत्मा नहीं है तो साबित नहीं कर सकोगे।

क्या तुम जानते हो—तुम्हारे अन्दर कितनी शक्ति है? नहीं जानते। यदि जानते तो तुम नहीं कहते कि आत्मा नहीं है। भले कहो आत्मा नहीं है इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं। पर आत्मा नहीं है इस मान्यतापर तुम्ही अनन्त शक्तिसे वंचित रहते हो। डॉ० स्टीवेंस वार्सेस्टर का कहना है कि अतीन्द्रिय-ज्ञान तथा दूसरे वस्तुगत चिन्तन परीक्षणोंके आधारपर मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि मानव मस्तिष्कमें शक्तिका अनन्त और अक्षय स्रोत है। वह सोया हुआ मनुष्य दूसरेको सम्मोहित कर सकता है। मानव-मस्तिष्ककी यह शक्ति तुलनीय दूसरी नहीं है। उससे भिन्न है। इसके आगे अभी कोई पता नहीं चल सका है।

तुम केवल अपनी न्यूनतामें डूबे हुए हो। इसीलिए तुम अपनी असीम क्षमताओंसे अनजान हो। तुम आत्मबलको अवसर दो फिर देखो कि तुम्हारी क्षमताएँ किस प्रकार प्रकट होती हैं और तुम कितने शक्तिशाली बनते हो। तुम एक मनोवैज्ञानिकसे पूछो—चेतन मनकी अपेक्षा अवचेतन मन कितना शक्तिशाली है? आधुनिक मनोविज्ञान अवचेतनको सर्वोपरि क्यों मानता? इसीलिए कि चेतन मनको प्रभावित किये बिना अवचेतन मन क्रिया

शील नहीं बनता। उसके क्रियाशील बने बिना नवीनता प्रकट नहीं होती।

तुम प्रवृत्तिकी रट लगाते-लगाते सत्यसे बहुत दूर जा बैठे। प्रवृत्ति यानी चंचलता। यह तुम्हारे जीवनका नियम हो सकती है। पर सत्य तुम्हारे जीवनका नियम नहीं है। वह अस्तित्वका नियम है। उसे तुम निवृत्तिके द्वारा ही पा सकते हो, निवृत्ति यानी स्थिरता। तुम स्थिर काँचमें ही अपना प्रतिबिम्ब देख सकते हो, चंचलमें नहीं। तुम सत्यकी खोज करना चाहते हो तो और कुछ मत करो। केवल ध्यान करो। केवल मनको एकाग्र करो। अवचेतन मनको अपनी शक्तिके प्रदर्शनका अवसर दो।

ध्यान करो—यह बहुत सरल बात है। इसे समझनेमें कोई कठिनाई नहीं। पर बहुधा ऐसा होता है कि शब्दोंकी सरलतामें छिपी हुई भावोंकी गहराईको नापना सरल नहीं होता। ध्यानके लिए या चित्तकी एकाग्रताके लिए बहुत तपना पड़ता है और इतना तपना पड़ता है कि शायद अन्य किसी कार्यके लिए उतना नहीं तपना पड़ता। क्योंकि हमारे चारों ओर प्रवृत्तिका वातावरण है। हमारा शरीर चंचल है। हमारी इन्द्रियाँ चंचल हैं। हमारा मन चंचल है। भूख लगती है, इन्द्रियाँ चंचल हो जाती हैं, मन चंचल हो जाता है, देह प्रकम्पित हो उठती है। प्रवृत्ति प्रवृत्तिको जन्म देती है। भूख मिटानेको रोटी आवश्यक होती है। उसके लिए पैसा आवश्यक होता है। उसके लिए व्यापार और व्यापारके लिए और बहुत-कुछ। इस प्रकार एक प्रवृत्तिके लिए हजार प्रवृत्तियाँ आवश्यक होती हैं, एक प्रवृत्तिमें-से हजार प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं।

क्रोध आता है। इन्द्रिय, मन और देह सारे काँप उठते हैं। उनकी शान्तिके लिए तुम क्रोधके कारणका निवारण नहीं चाहते हो। इस शृंखलामें भी तुम्हारी प्रवृत्तियोंकी कड़ी टूट नहीं पाती। तुम चाहते हो वैरसे वैर मिटे, हिंसासे हिंसा परास्त हो और असत्यसे असत्यका नाश हो। पर यह कब

हुआ है? यदि होता तो मस्तक युक्त ही होता तब मस्तिष्कका युक्त कैसे जाता?

तुम सब मानो आज शिथिलीकरणकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। इसे पलायनवाद कहकर उपेक्षित करते रहोगे तो एक दिन यह संसार मानसिक रोगियोंका कारागृह बन जायेगा।

आजके यांत्रिक युगमें वातावरण-व्यवहार जितना भावनात्मक तनाव बढ़ रहा है जितनी बीमारियां बढ़ रही हैं जितना आदमी अस्वस्थ बन रहा है उतना पहले नहीं था। अधिकांश रोगोंका कारण यह तनाव बन रहा है। क्या शिथिलीकरणसे अधिक लाभप्रद इसकी और कोई चिकित्सा है? अनुभव कहता है नहीं है। इसलिए मैं कहता हूं भगवान महावीरकी भाषामें जो कायोत्सर्ग है और भगवान् बुद्धकी भाषामें जो आनापानस्मृति है वही इसकी अचूक चिकित्सा है। यह शिथिलीकरण क्या है? निवृत्ति। शरीर-चेष्टाकी निवृत्ति भाषाकी निवृत्ति और मनकी निवृत्ति। जो मनको खाली करना नहीं जानता वह उसे भर नहीं सकता। तुम्हारी प्रवृत्ति इसीलिए सफल नहीं बनती है कि तुम निवृत्तिको भुलाकर प्रवृत्ति करते हो।

कामके बाद आराम और आरामके बाद काम जो करता है वह उस व्यक्तिसे ज्यादा अधिक काम कर सकता है जो निरन्तर काम-ही काम करता है विश्राम नहीं करता। आचरणके बाद मौन और मौनके बाद आचरण—यह क्या है? प्रवृत्ति और निवृत्तिका संतुलन। निवृत्तिकी सही परिभाषा है उससे बड़ी प्रवृत्ति। निवृत्तिका अर्थ है दूसरी प्रवृत्ति न पहलेकी निवृत्ति। प्रवृत्ति जगत्का लक्षण है। जिसका अस्तित्व है, उसमें प्रवृत्ति है सक्रियता है। जिसमें प्रवृत्ति नहीं है वह असत् है। जैन दर्शनकी भाषामें कहा जाता है—जो सत् क्रियाकारी है वह सत् है। सत् निवृत्ति कभी नहीं होती निष्क्रिय भी नहीं होती। निवृत्तिका अर्थ ही है प्रवृत्तिका रूपान्तर। एक वैज्ञानिक व्यवसायसे निवृत्त होता है और खोज कार्यमें प्रवृत्त। एक किसान गोचारणसे निवृत्त होता है और कृषि कार्य

में प्रवृत्त। एक भोगी आत्म-साधनासे निवृत्त होता है और व्यवहारमें प्रवृत्त। एक योगी व्यवहारसे निवृत्त होता है और आत्म-साधनामें प्रवृत्त। सबमें अपने-अपने प्रकारकी प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है। सब प्रकारकी प्रवृत्तियाँ और सब प्रकारकी निवृत्तियाँ किसी एकमें कभी नहीं होती।

तुम निवृत्तिके नामसे घबराओ मत। उसके निकट जाओ। उसकी आराधना करो। यह एक बहुत ही ऋजुमार्ग है। इसमें चलो। तुम्हारा अनन्त शक्तिका स्रोत जो सिमटा हुआ है, प्रकाशमें आ जायेगा।

तुम आत्मा हो। आत्मामें अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द है। तुम जिन वस्तुओंको पानेके लिए भटक रहे हो, वे आत्मामें नहीं हैं। किन्तु उसके पास वह वस्तु है, जिसे पाकर तुम उन्हें पानेके लिए नहीं भटकोगे। जो अपने-आपको नहीं पहचानता, वह बाहरका बहुत-कुछ पाकर भी दरिद्र होता है और जो अपने-आपको पहचान लेता है, वह बाहरसे अकिंचन होकर भी समृद्ध होता है। दरिद्र कोई है ही नहीं। पर मनुष्य दरिद्र बनता है और इसलिए बनता है कि वह नहीं जानता कि मैं दरिद्र नहीं हूँ। आन्तरिक विश्वास प्रबल हो तो समृद्धि-ही-समृद्धि है। वह दुर्बल हो तो दरिद्रता-ही-दरिद्रता है। समृद्धि और दरिद्रता तुम्हारे अपने ि की परिधिमें ही है।

तुम्हारे ज्ञान-चक्षुपर आवरण है, तुम्हारे मनमें वासनाएँ हैं, तुम्हारी इन्द्रियाँ चपल हैं इसलिए तुम दरिद्र हो। तुम्हारा शक्ति स्रोत सूखा हुआ है। आवरणको दूर कर वासनाओंसे मुक्त बनो, इन्द्रियोंपर अपना नियन्त्रण स्थापित करो। फिर देखो तुम कितने समृद्ध हो। तुमने मान लिया ऐसा करना योगीका काम है, हमारा नहीं। मुझे लगता है, तुमने जो माना है, वह सच नहीं है। सचाई यह है कि योगी बने बिना कोई शान्तिका जीवन जी नहीं सकता। तुम पूछोगे, फिर इस दुनियाका क्या होगा? होगा कुछ भी नहीं। दुनिया चली आयी है और चलेगी। तुम योगी बनकर जीओगे तो तुम्हें शान्ति मिलेगी अन्यथा तुम्हारा मन अशान्त

होगा तब पीछे भी नहीं रहोगे। तुम्हारा स्नायु-संस्थान तुम्हें कुरेदता रहेगा और विचारोंकी मूहलत किन्तु निश्चित हो जायगी।

योगीका नाम सुनकर चौंको मत। मैं फिर कहता हूँ कि हर व्यक्ति को योगी बनना चाहिए। हरेकको और सबको इतना समाधान अवश्य देना चाहिए जितना मानसिक सन्तुलनके लिए आवश्यक हो।

तुम्हारे वासना तुम्हारे विचार और तुम्हारे असत्य विकल्प तुम्हें गतिहीन किये हुए हैं। तुम अपनी शक्तिके अजस्र स्रोतको प्रवाहित करना चाहते हो तो वासनाओंपर विजय प्राप्त करो। विचारोंको मिटाओ असत्य विकल्पोंपर शासन करो। तुम योगी बनकर ही ऐसा कर सकोगे। तब फिर योगी बनकर केवल ही रहोगे त्यागी नहीं बनोगे। त्यागको योगी मिल सकती है पर समाधान नहीं मिलता। योगी वह होता है जिसके लिए समाधान पाना शेष नहीं रहता। अवश्य तुम भी यही चाहते समाधान चाहते हो। तुम्हारी दैहिक आवश्यकताओंका समाधान बाहर है पर तुम्हारी आन्तरिक समस्याओंका समाधान कहीं बाहर नहीं है। वह तुम्हारे भीतर ही है तुम्हारे मनमें है तुम्हारी आत्मामें है। उसको जगाओ उसके आलोकमें अपने-आपको देखो। तुम स्वयं देख पाओगे कि तुम अनन्त शक्तिके स्रोत हो।



तुम्हारा भविष्य तुम्हारे हाथमें

मैंने बड़े सहज भावसे कह दिया कि मनको जलाओ पर उसे जलाना क्या इतना सरल है जितना शब्दोंमें दीखता है? तुम जब-जब उसे जलानेका यत्न करोगे तब-तब इन्द्रियोंका तूफान आयेगा। तुम उससे नहीं निपट पाओगे। मनका दिया बुझाका बुझा रह जायेगा।

मैंने बड़े सहज भावसे कह दिया कि मनको खाली कर डालो। पर उसे खाली करना क्या इतना सरल है जितना शब्दोंमें दीखता है? तुम जब-जब उसे खाली करनेका यत्न करोगे तब-तब विकल्पोंका तूफान आयेगा। तुम उससे नहीं निपट पाओगे। मन भराका भरा रह जायेगा। तुम मानते हो कि स्मृति मनुष्यके लिए वरदान है। मैं भी मानता हूँ कि वह वरदान है। पर तुम क्यों नहीं मानते कि वह अभिशाप भी है। विस्मृतिको तुम अभिशाप मानते हो। मैं भी मानता हूँ कि वह अभिशाप है। पर तुम क्यों नहीं मानते कि वह वरदान भी है। कोरी स्मृति और कोरी विस्मृति दोनों अभिशाप हैं। क्वचित् स्मृति और क्वचित् विस्मृति दोनों वरदान हैं।

कोई भी विचार मनमें उठता है, वह अपना संस्कार छोड़ जाता है। विचार अच्छा भी होता है, बुरा भी होता है। अच्छा संस्कार तुम्हें ऊपर उठाता है तो बुरा संस्कार तुम्हें नीचे ले जाता है। विस्मृतिकी कला यदि तुम्हारे हाथमें नहीं है तो तुम्हारा सुन्दर भविष्य तुम्हारे हाथमें नहीं है। तुम प्रयत्न करो कि कोई भी बुरा विचार तुम्हारे मनमें न घुस पाये। यदि कोई घुस जाये तो विस्मृतिका सहारा लो। उसे इस प्रकार भुला दो जैसे वह तुम्हारे मस्तिष्कका स्पर्श भी न कर पाया हो। विस्मृतिका प्रयत्न

करोगे तो उसकी स्मृति प्रबल होकर उभर आयेगी। उसका उपाय यह है कि तुम अच्छे संस्कारकी स्मृतिको इतना प्रबल करो कि बुरेकी विस्मृति अपने-आप हो जाय। क्षमा या नम्रताको पुष्ट करो क्रोध नष्ट हो जायगा। मृदुताको पुष्ट करो अभिमान क्षीण हो जायगा। ऋजुताका ध्यान करो, कपट पराजित हो जायगा। सन्तोषका बार-बार चिन्तन करो लोभ विलीन हो जायगा। क्रोध अभिमान माया और लोभ—ये तुम्हारे भाग्यको नष्ट विकृत करनेवाले शैतान हैं। इनका प्रतिरोध करके ही तुम अपने भाग्यकी सृष्टि कर सकते हो। भाग्य और क्या है? पवित्र विचारोंकी सृष्टि भाग्यकी सृष्टि है और अपवित्र विचारोंकी सृष्टि ही दुर्भाग्यकी सृष्टि है। तुम स्वतन्त्र स्रष्टा हो अपने भाग्यके और दुर्भाग्यके। तुम चाहो तो अपवित्र विचारोंको विलीन कर पवित्र विचारोंका सृजन कर सकते हो। आज तुम अपने मनपर अपनी बुद्धि कर्मपर जो अंकित करते हो वही कल तुम्हारा भाग्य बन जाता है। वर्तमानका प्रबल पुरुषार्थ कहलाता है और अतीतका प्रबल भाग्य। हर कर्म या विचार सम्पन्न होता है तब वह संस्कार कहलाता है और वही जब उदित होता है तब भाग्य कहलाता है।

न मैं जानता तुम आस्तिक हो या नास्तिक? न मैं जानता तुम भाग्यमें विश्वास करते हो या नहीं? यह जानकर न क्या कभी बात जान पाओगे? मैं जानता हूँ कि क्रियाकी प्रतिक्रिया अवश्य होती है। इस वास्तविक सत्यको तुम भी अस्वीकार कैसे करोगे? एक बार जो देखा है सुना है और अनुभव किया है वह स्मृति बनकर तुम्हारे सामने आता है—एक बार ही नहीं हजारों बार। वह तुम्हें प्रभावित करता है। उससे तुम कभी तुष्ट होते हो कभी रुष्ट। कभी आकाशकी चोटीपर चढ़ जाते हो और कभी खोहकी अतल गहराईमें डूब जाते हो। संस्कार उद्बुद्ध होता है स्मृति हो जाती है। ज्यों ही कोई शुभ संस्कार उद्बुद्ध होता है तुम्हारी बुद्धि उचित निर्णय पर आती है और कोई अशुभ संस्कार जागृत होता है तुम्हारी बुद्धि अनुचित निर्णय पर आती है।

मस्तिष्क तुम्हारे स्थूल शरीरका एक भाग है। उसमें असंख्य प्रकोष्ठ हैं। प्रत्येक कोष्ठमें असंख्य संस्कार सिमटे हुए हैं। उन्हें तुम फैला सको तो तुम्हें ऐसे सैकड़ों भू-भागोंकी सृष्टि करनी पड़े। इस स्थूल शरीरका मूल कारण सूक्ष्म शरीर है। कृतकी प्रतिक्रियाका मूल हेतु सूक्ष्म शरीर है और उसीका स्थूल रूप है, दृश्य शरीर। तुम अदृश्यको नहीं मानते, इसमें तुम्हारा क्या अपराध है? इन्द्रियाँ दृश्यसे आगे नहीं जातीं। मन अदृश्य तक पहुँचता है पर सहारेके बिना नहीं। उसे सहारा दो देते हैं—इन्द्रियाँ और शब्द। इन्द्रियाँ उसे अदृश्य तक नहीं ले जा सकतीं। क्योंकि अदृश्य उनका विषय नहीं है। शब्दमें तुम्हारी आस्था नहीं। तुम्हारे पास यह प्रमाण भी नहीं है कि जिसका यह शब्द है, वह अदृश्य-दर्शी था। तुम किसीके शब्दको प्रमाण नहीं मानते, उसके लिए तुम्हारा यही तो तर्क है पर तर्क कहीं प्रतिहत नहीं होता, उसके लिए तुम्हारे पास क्या तर्क है? अदृश्य दर्शी तुम भी नहीं हो। अनन्त अतीतमें जो हुआ है, उसके लिए तुम कल्पना ही दे सकते हो, प्रमाण नहीं। प्रमाण तो तुम अदृश्य-दर्शी होकर ही प्रस्तुत कर सकते हो। दृश्य-दर्शी होकर तो तुम इतना ही कहनेका अधिकार पा सकते हो कि मैं इसके आगे नहीं देख पाता। इसका मैं कब विरोध करता हूँ। मैं बुद्धिकी क्षमताको जानता हूँ और उसकी सीमासे भलीभाँति परिचित हूँ, इसलिए मैं तुम्हारी क्षमताको चुनौती नहीं देता। पर तुम अपनी सीमित दृष्टिको भुलाकर अनन्त सत्यको चुनौती देते हो, इसे मैं तुम्हारी अनधिकार चेष्टा मानता हूँ और मानता हूँ इसे तुम्हारी प्रगतिमें बाधा। हमारा हर कम्पन अपना अस्तित्व छोड़ जाता है। इस आकाश-मण्डलमें ऐसे अनन्त अस्तित्व हैं। सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र नहीं थे तब वे अदृश्य थे। आज उनसे मनुष्य परिचित हो गया है। हर पदार्थका प्रतिबिम्ब और हर ध्वनिको प्रतिध्वनि आकाशमें अव्यक्त होकर फिर व्यक्त हो जाती है—एककी अभिव्यक्तिका साधन टेलेविजन है और दूसरीकी अभिव्यक्तिका रेडियो। आज हम अदृश्यसे दृश्यकी ओर आगे बढ़े हैं।

किसी युगमें जो आलस्य योगीके लिए दुर्लभ था वह आज जन साधारणके लिए सुलभ बन गया है। उसका रहस्योद्घाटन होता जा रहा है। वह अनन्त है इसलिए वह पूर्णतः अनावृत नहीं होता। फिर भी हम प्रयत्नवान् हों तो उतना सत्य अनावृत कर सकते हैं जितना हमारी शक्ति और स्थितिको आलोकित कर सके।

हम पुरुषार्थकी गाथा गाते समय भाग्यको भूल जाते हैं। इसका अर्थ है कि हम सत्यसे आँख मिचौनी करना चाहते हैं। भाग्य भी अनिवार्य है वह पुरुषार्थको भुलानेकी प्रक्रिया है। पुरुषार्थ कभी निष्फल नहीं होता—यह शाश्वत सत्य है। भाग्य इसीकी एक व्याख्या है। पुरुषार्थका जो सूक्ष्म और तात्कालिक परिणाम है वह तुम्हारी सफलता है। उसका जो अव्यक्त और दूरगामी परिणाम है, वही तुम्हारा भाग्य है। पुरुषार्थको तुम इसलिए महत्त्व देते हो कि उससे तुरन्त परिवर्तन हो सकता है। अच्छा पुरुषार्थ सफल हो तो भाग्य बुरेको अच्छेमें बदला जा सकता है और बुरा पुरुषार्थ सफल हो तो भाग्य इस अच्छेको बुरेमें बदला जा सकता है। यह पुरुषार्थकी महिमा है पर भाग्य भी तो उसीकी अमित भूमिका है। आजकी कार्यकुशलताका परिणाम आज भी अच्छा हो सकता है और भविष्य तक वह उसी रूपमें चल सकता है। आजके प्रमादका परिणाम आज भी भयंकर हो सकता है और वह भविष्य तक वह भयावह बन भी सकता है। यह हमारे जीवनकी सहज किन्तु बहुत जटिल प्रक्रिया है। हमारा हर पुरुषार्थ भाग्यका एक कण हमारे साथ जोड़ जाता है। ये ही अणु अपनी स्थितिके अनुसार हमें प्रभावित करते रहते हैं। हम उनकी अटूट कड़ीको तोड़ना नहीं जानते।

हर आदमी भिन्न और अद्भुत कार्य करनेमें जितना स्वतन्त्र है उतना उसका परिणाम भुगतनेमें स्वतन्त्र नहीं है। पेड़पर चढ़नेमें हर आदमी स्वतन्त्र है पर उतरनेमें परतन्त्र। खानेमें हर आदमी स्वतन्त्र है पर पचानेमें परतन्त्र। इन नियमोंके आलोकमें तुम यह निकालो नहीं कि हर आदमी पुरुषार्थ

करनेमें स्वतन्त्र है पर उसका फल भोगनेमें परतन्त्र। अगर तुम समझ गये कि तुम्हारा भाग्य तुम्हारा पुरुषार्थ ही गढ़ता है और तुम जान गये कि तुम्हारा भविष्य तुम्हारे ही हाथमें है। तुम भविष्यकी चिन्ता कर सकते हो पर वर्तमानको शक्तिशाली बनाये बिना तुम्हें भविष्यकी चिन्ता करनेका अधिकार नहीं है। तुम्हारा न समर्थ और पवित्र होगा तो अतीत तुम्हें अन्धकारमें नहीं ले जायेगा और भविष्य ओर अगा तब तुम्हें नहीं भटकायेगा? तुम भाग्यकी ओर मत झाँको, तुम झाँको उस पुरुषार्थकी ओर जो तुम्हारे भाग्यकी रचना करता है। तुम दुर्भाग्यसे भय मत खाओ, तुम भय खाओ उस बुरे पुरुषार्थसे जो तुम्हारे दुर्भाग्यकी सृष्टि करता है। तुम सुन्दर, सुखद और समुज्ज्वल भविष्यका निर्माण चाहते हो तो विचारोंपर अधिकार पाना सीखो। तुम विचार करते हो पर विचारोंपर अधिकार पानेका विचार शायद नहीं करते? इसीलिए तुम बहुत बार सुन्दर भविष्यकी निर्माण-सामग्रीसे वञ्चित रह जाते हो।

जो विचार एक बार मस्तिष्कमें उपजता है, वह अपना परिणाम छोड़ जाता है। इसे जानकर तुम नहीं चाहोगे कि मनमें कोई बुरा विचार आये। कोई भी आदमी अपने लिए बुरा विचार नहीं करता। यह स्थूल सत्य है। मूल सत्य है कि अपने लिए बुरा विचार किये बिना कोई आदमी दूसरेके लिए बुरा विचार कर ही नहीं सकता। दूसरोंकी हिंसा करनेवाला पहले अपनी आत्माकी हिंसा करता है। दूसरेका अहित सोचने-वाला अपना अहित सोचता है—ये चिर सत्य हैं। इनका आधार स्पष्ट है कि मनमें बुरा विचार लाकर तुम अपना अहित निश्चित रूपमें करते हो। दूसरोंका अहित तो उससे हो भी सकता है और नहीं भी।

इस असीम आकाशमें प्रसन्नता भी है और विषाद भी है, सामर्थ्य भी है और क्लीबता भी है, ज्ञान भी है और जड़ता भी है—वह सब कुछ है जो तुम चाहते हो और वह भी सब है जो तुम नहीं चाहते। तुम जो चाहते उसे तबतक नहीं पा सकते जबतक तुम यह न सीख लो कि

तुम्हें अपने और दूसरोंके लिए वही विचार मनमें लाना चाहिए, जो तुम पाना चाहते हो। तुम विकास चाहते हो तो निश्चित मानो कि दूसरोंके विनाशका विचार मनमें धरकर तुम विकास नहीं कर सकते। विकास ही विकासका विचार मनमें धरो, वह स्वयं तुम्हारी ओर खिंचा चला आयगा। तुम शान्ति चाहते हो तो निश्चित मानो कि अशान्तिका विचार मनमें प्रज्वलित कर तुम शान्ति नहीं पा सकते। शान्ति ही शान्तिके विचारसे मनको अधिष्ठित करो, वह स्वयं तुम्हारा वरण करेगी।

मनको जकड़ना और खाली करना योगियोंके लिए सरल है पर सबके लिए नहीं। किन्तु इतनी साधना तो सबको होनी चाहिए कि अभावोंकी अंधियारीमें भी मन खिल जाय और हम शक्तिके ऊपर आ जायें।

